श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष मे जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च मे चार भागों मे प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज करही नमूने की कापी मंगाने मे सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्ही के पास भेजने होंगे।

४ पते मे हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्ही को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र मे अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से सबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते मे आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते मे आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णत. अथवा अंशत. स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं —

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए, एल एल बी

प्रोफेसर ए एन उपाध्ये, एम ए

बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए एस

पण्डित के भुजवली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४]

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए , एल एल बी

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए

बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए एस

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४)   विदेश में ४॥)   एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९४

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

THE JAINA ANTIQUARY
जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक त्रैमासिक पत्र

४ | दिसम्बर, १९३७। मार्गशीर्ष, वीर नि० २४६४ | किरण ३

जैनमन्त्र-शास्त्र

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

आजकल बहुतेरे व्यक्तियों का विश्वास मन्त्रशास्त्र पर से सर्वथा उठता जा रहा [है।] इसका प्रधान कारण यह है कि अब हमारे भारतवर्ष में इस शास्त्र के मर्मज्ञ बहुत ही [कम पा]ये जाते हैं। इसी का यह नतीजा है कि वर्तमान समय में सर्वत्र सुगमतया मन्त्रशास्त्र [के] पथ प्रदर्शक मिलते हैं और न इसके साधक ही। जब कोई इस शास्त्र के अल्पज्ञ साधक [...]प्रेरित हो किसी मन्त्र या देवविद्या को सिद्ध करने के लिये प्रयत्न करता है तब भी प्रकार [...]विधि विधान को नहीं जानने से असफल हो बैठता या उल्टा हानि उठाता है। इन्हीं [ब]ातों को देखकर साधारण जनता की श्रद्धा इस शास्त्र से ही उठ जाती है। मन्त्रशास्त्र में [ह्र]ास होने का यही मूल कारण है। मेरे उल्लिखित कथनानुसार आजकल बहुसंख्यक [...]क स्वार्थसाधना से प्रेरित होकर, सन्तान एवं विजय आदि की प्राप्ति के लिये ही किसी

मन्त्र या देव-देवियों को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होते है। इसीसे ऐसे कलुषित साधकों को वे सिद्ध होते भी कम। यह तो लोकोपकारक विद्या है। अत एव स्त्री-वश्यादि प्रकरणों मे परस्त्रीवश्यादि को मन्त्रशास्त्र में सर्वथा निन्द्य ठहराया है। यह है भी ठीक—अन्यथा इन दुर्व्यवहारो के साधक का स्वदार-संतोषादि व्रत किसी प्रकार कायम नहीं रह सकता। साथ ही साथ अधिकतर कमजोर दिलवाले साधक साधनकार्य मे प्रवृत्त होते हुए किसी कारणवश घवड़ा कर या भयभीत होकर कष्टसाध्य समझ उसे बीच ही मे छोड़ देते हैं। ऐसे ज्वलत दृष्टांत एक नही अनेकों उपस्थित किये जा सकते हैं। इस प्रकार के कार्य से साधक अपनी अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त करना तो दूर रहा—प्रत्युत क्लेश उठाता है। यह स्वाभाविक बात है कि कोई भी देव-देवी साधक की इच्छानुवर्त्तिनी होने के पूर्व उनकी खरी परीक्षा लेती है। साथ ही साथ इनके मन मे यह विचार भी उठना स्वाभाविक है कि यह साधक किस उद्देश से हमें सिद्ध करना चाहता है। कहीं इन्हे यह पता लग गया कि साधक का हृदय स्वार्थ-वासना से दूषित है तो फिर कहना ही क्या ? एक वात और है, जिस प्रकार लोक मे एक सामान्य व्यक्ति को वश करना साधारण वात है और एक विशिष्ट व्यक्ति को वश करना एक विशिष्ट वात है, उसी प्रकार साधारण देव-देवियों को सिद्ध करना वहुत आसान है—पर विशिष्ट देव-देवियो को वशवर्त्ती बनाना सहज वात नही है। उसके लिये विशिष्ट शक्ति, धैर्य एवं अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। वे बहुत परिश्रम से सिद्ध होती हैं। हाँ, सिद्ध होने पर न सामान्य कारणों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद ही हो सकता है और न वे साधक को ऐसा कोई मार्मिक आघात ही पहुचा सकती है। परन्तु किन्हीं साधारण देव-देवियो पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। आज वे साधक से सन्तुष्ट है—कल ही ज़रा सी त्रुटि पर उनसे असन्तुष्ट हो सकती हैं। बल्कि इस असंतुष्टि से वे अपने उपासक की अत्यधिक क्षति भी पहुंचा सकती है। इसके भी पर्याप्त उदाहरण मिलते है।

कुछ शताब्दियो के पूर्व भारतवर्ष मे हिन्दू, जैन एवं बौद्ध प्रत्येक धर्म मे इस मन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् अधिकतर उपलब्ध होते थे और वे एक से एक विशिष्ट चमत्कार को दिखला कर लोगो को चकित कर देते थे। वल्कि उस जमाने मे इस मन्त्रशास्त्र के द्वारा प्रदर्शित इन चमत्कारों से वहुत से भिन्न-भिन्न धर्मावलम्वी भी प्रभावित हो अपने धर्म में दीक्षित होते थे। उस समय जिस धर्म मे इस मन्त्रशास्त्र का बोल-वाला नही वह धर्म निर्जीव सा समझा जाता था। उन दिनों मन्त्रशास्त्र का एकाधिपत्य इसी से ज्ञात होता है कि शौचादि (मल-मूत्र-परित्याग) से लेकर बड़े से बडे यागादि कृत्य की नकेल इस शास्त्र के सदा हस्तगत रहती थी। यही कारण है कि निवृत्ति-मार्ग-प्रधान जैन धर्म भी इससे नहीं वच सका। साधारण

गृहस्थों की बात कौन कहे, बड़े बड़े तपोनिष्ठ मुनि भी अपने मार्ग के प्रतिकूल होने पर भी इससे मुक्त नहीं हो सके। क्योंकि उन्होंने समझा था कि इस युग में इसकी अवहेलना करने से फिर पीछे धर्म की रक्षा करना कष्टसाध्य हो जायगा।

वास्तव में मन्त्रशास्त्र योग का एक अंग है। इसे 'मन्त्रयोग' भी कहते हैं। जैन परिभाषा में यह पदस्थ-ध्यान के अन्तर्गत है। सुप्राचीन काल में यह केवल आध्यात्मिक सीमा के अन्तर्भुक्त था। किन्तु भारतवर्ष में एक ऐसा भी समय आया, जब कि इस शास्त्र की खास तौर से वृद्धि हुई। उस समय इसकी अनेक शाखा प्रशाखायें निकलीं और ये आध्यात्मिक विकाश की सीमा का उल्लंघन कर प्रायः लौकिक कार्यों की सिद्धि का प्रधान साधन बन गयीं। यही 'तांत्रिकयुग' के नाम से प्रख्यात है। जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ इस युग में मन्त्र, तन्त्र एवं यन्त्रों का पर्याप्त आविष्कार तथा प्रचार हुआ और इस विषय के अनेकों ग्रन्थों की रचना हुई। उस समय कितने ही अध्यात्मनिष्ठ जैन साधु इस लोक प्रवाह में अपने को नहीं रोक सके। इसलिये उन्होंने भी समयानुकूल अपने मन्त्रशास्त्र को सम्बर्द्धित किया, अनेक अतिशय—चमत्कार दिखलाये, अपने मन्त्रबल से जनता को मुग्ध कर उसे अपनी ओर आकर्षित किया और लोगों पर यह भलीभाँति प्रमाणित कर दिया कि उनका मन्त्रवाद किसी से कम नहीं है—प्रत्युत बढ़ा चढ़ा है। साथ ही, उन्होंने कितने ही मन्त्रशास्त्रों की भी सृष्टि कर डाली, जिन सब का मूल 'विद्यानुवाद' नाम का १० वाँ 'पूर्व' बतलाया जाता है"।*

अस्तु मन्त्रशास्त्र का विषय बहुत ही गहन एवं गंभीर है। इसीलिये उसे झट-पट समझ लेना यह आसान काम नहीं है। शास्त्रों में जो इसका विवेचन मिलता है, वह अत्यधिक सुन्दर, बुद्धिगम्य एवं मननीय है। जैन साहित्य में ज्वालिनीमत, विद्यानुशासन, ज्वालिनीकल्प, भैरवपद्मावतीकल्प, भारतीकल्प, नमस्कारमन्त्रकल्प, कामचाण्डालिनी कल्प, प्रतिष्ठाकल्प, चक्रेश्वरी कल्प, सूरिमन्त्रकल्प, श्रीविद्याकल्प, ब्रह्मविद्याकल्प, रोगापहारिणीकल्प, वर्द्धमानकल्प, सरस्वतीकल्प, गणधरवलयकल्प श्रीदेवताकल्प, वाग्वादिनीकल्प और घण्टाकर्ण कल्प आदि मन्त्रशास्त्र के अनेक मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त पद्मावती स्तोत्र, ज्वालिनीस्तोत्र, पार्श्वनाथ-स्तोत्र, कूष्माण्डिनी स्तोत्र, सरस्वती स्तोत्र और ब्रह्मदेव स्तोत्र आदि कई मन्त्रस्तोत्र भी पाये जाते हैं। प्रतिष्ठा एवं भिन्न भिन्न आराधना-सम्बन्धी ग्रंथों में भी इस विषय की काफी चर्चा की गयी है। जैनाचार्यों ने मन्त्र व्याकरण एवं मन्त्रकोष या बीजकोष की भी रचना की है। बल्कि सुनने में आता है कि प्रातः स्मरणीय आचार्य समन्तभद्र ने भी एक मन्त्र व्याकरण का प्रणयन किया था। उपलब्ध दिगंबर साहित्य में मन्त्र

* देखें 'अनेकान्त' पृष्ठ ४२७

शास्त्र के सब से अधिक ग्रंथ मल्लिषेण आचार्य के पाये जाते हैं। आप बड़े मन्त्रवादी थे। स्वरचित 'महापुराण' में आपने अपने को खास तौर से 'गारुडमन्त्रवादवेदी' लिखा है। आपके भैरवपद्मावतीकल्प से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप सरस्वती से कोई वर भी प्राप्त किये हुए थे। इस बात को आप उक्त ग्रन्थ में 'सरस्वतीलब्धवरप्रसादः' इस पद्यांश से व्यक्त किया है। इस बात की सूचना अन्यान्य ग्रंथों से भी मिल जाती है। आचार्य मल्लिषेण 'उभय-भाषा-कविशेखर' * की पदवी से अलंकृत थे। आप जिनसेनाचार्य के शिष्य एवं अजितसेनाचार्य के प्रशिष्य थे। आपका समय विक्रम की ११वीं तथा १२वीं शताब्दी है। क्योंकि आप का 'महापुराण' शालिवाहन शक ९६०, (वि० सं० ११०४) में बन कर समाप्त हुआ था। (१) विद्यानुशासन (२) ज्वालिनीकल्प (३) भैरवपद्मावती-कल्प (४) भारती-कल्प (५) कामचाण्डालिनी-कल्प (६) बालग्रह-चिकित्सा ये छः ग्रन्थ इन्हीं की कृतियाँ हैं। इनमें विद्यानुशासन ही आप के मन्त्रशास्त्र का सब से बड़ा ग्रन्थ है। इसमें २४ अधिकार तथा ५ हजार मंत्र हैं। मगर इन्द्रनंदियोगीन्द्र-द्वारा रचित ज्वालिनीमत या ज्वालिनी-कल्प लगभग इससे भी एक शताब्दी प्राचीन है। यह इन्द्रनन्दि बप्पनन्दि के शिष्य तथा वासवनंदि के प्रशिष्य थे।

यह तो जैनमंत्र साहित्य की बात हुई, इसी प्रकार बौद्धसाहित्य में ताराकल्प, वसुधारा-कल्प और घण्टाकर्णकल्प आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में तो इस मन्त्रशास्त्र का एक अलग भाण्डार ही है।

अब मंत्र-साहित्य के प्रत्येक अंगोपांग के पारिभाषिक शब्दों पर सामूहिक रूप से प्रकाश डाला जाता है :—

कल्पग्रन्थ—जिन ग्रंथों में मंत्र-विधान, यंत्रविधान, मंत्रयंत्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आह्वान, पूजन, विसर्जन एवं साधनादि बातों का वर्णन किया गया है वे कल्प-ग्रन्थ कहलाते हैं।

तंत्र-ग्रन्थ—जिनमें गुरु-शिष्य की संवादरूप से मंत्र-यंत्र, तन्त्र, औषधी आदि बातों का उल्लेख हो वे तंत्र-ग्रंथ से अभिहित होते हैं।

पद्धति ग्रन्थ—जिन ग्रन्थों में अनेक देव-देवियों की साधना का विधान बतलाया गया है उनकी पद्धति-ग्रन्थ से प्रसिद्धि है।

बीजकोष—मंत्रों के पारिभाषिक शब्दों को समझने की पद्धति दिखला कर एक एक बीज की अनेक व्याख्यायें की गयी हों उन्हें बीजकोश या मंत्रकोश कहते हैं।

मार्ग—मन्त्र-शास्त्र में मन्त्र सिद्ध करने का मार्ग भी भिन्न भिन्न वर्णित है। क्योंकि

* कई प्राचीन प्रतियों में इनकी उपाधि 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती, भी उपलब्ध होती है।

मंत्र शास्त्र का कहना है कि इसी उपाय-द्वारा मंत्र सिद्ध हो सकता है। दक्षिण, वाम और मिश्र के भेद से इस शास्त्र में तीन ही मार्गों का उल्लेख मिलता है। सात्त्विक मंत्र सात्त्विक सामग्री द्वारा सात्त्विक देवताओं की सात्त्विक उपासना का नाम दक्षिण अथवा सात्त्विक मार्ग है। जिस मार्ग-द्वारा मदिरा, मांस और महिला आदि द्रव्यों से भैरव, भैरवी आदि तामस प्रकृति की देव-देवियों की आराधना करने का विधान हो वह वाम मार्ग है। इसी प्रकार उक्त मांस-मदिरादि वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप में न ग्रहण कर उनके प्रतिनिधियों द्वारा इष्ट की सिद्धि की जाने का नाम मिश्र मार्ग है। प्रधानतया दक्षिण और वाम ये ही दो मार्ग हैं। साथ ही साथ यह भी जान लेना परमावश्यक है कि वाम मार्ग प्रायः तंत्र शास्त्र का विषय है और अन्य ग्रन्थों में इस मार्ग का विवेचन सर्वथा नहीं मिलता है। वाममार्गी प्रायः भैरव और काली आदि देव-देवियों के आराधक होते हैं। दत्तात्रेय इनके गुरु हैं और वे गुरुपादुका, श्रीचक्र एवं भैरवचक्र की पूजा किया करते हैं। परन्तु इतना यहाँ कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि वाममार्ग का प्रभाव मिश्र मार्ग पर पड़ा ही है, किन्तु दक्षिण मार्ग भी इसके प्रभाव से बच नहीं सका। इसी का परिणाम है कि दक्षिण मार्गी भी पीछे तम प्रधान देवताओं की उपासना करने लग गये। दक्षिण मार्ग सात्त्विक होने से एक प्रकट मार्ग है। पर वाम मार्ग असात्त्विक होने से गुप्त मार्ग है। इसी से वे प्रायः अपने मार्ग को बतलाने में संकोच करते हैं और प्रारंभ में ही वे "गोपनीय गोपनीय गोपनीय प्रयत्नतः" इस बात को रट लगाते हैं। तान्त्रिक ग्रन्थ प्रायः वाममार्ग को ही पुष्ट करते हैं। पीछे वाम मार्ग का का अधिक बढ़ जाने से सात्त्विक मंत्र एवं सात्त्विक देव-देवियों का सिद्ध होना दुःसाध्य सा हो गया। मंत्र शास्त्र से विश्वास उठ जाने का यह भी एक कारण हुआ।

सम्प्रदाय—मंत्रशास्त्र में केरल, काश्मीर एवं गौड नामक तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं। वैदिक धर्मावलम्बी मांत्रिकों में प्रायः केरल सम्प्रदाय, बौद्धों में गौड और जैनियों में काश्मीर सम्प्रदाय निर्दिष्ट हैं। काश्मीर सम्प्रदाय वाले सरस्वती, पद्मावती आदि सात्त्विक देवताओं के उपासक होने से विशुद्ध दक्षिण मार्गी हैं। गौड सम्प्रदाय वाले काली तारा आदि तामस प्रकृति की देव-देवियों के उपासक होने से वाममार्गी होते हैं। केरल सम्प्रदाय मिश्रमार्गी सम्प्रदाय है। इसमें प्रकट रूप में तो दक्षिण और गुप्त रूप से वाम मार्ग का आश्रय लिया जाता है। वामन प्रकृति वाली महालक्ष्मी आदि ही इनकी उपास्य हैं। 'पुराणों' आदि ग्रन्थों में सम्प्रदाय का आश्रय लेना परमावश्यक ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य बतलाया गया है।

आगम—मार्ग एवं सम्प्रदाय के समान मंत्र शास्त्र में वेदागम, बौद्धागम एवं जैनागम इस प्रकार तीन भिन्न भिन्न आगम वर्णित हैं। जैनागम दक्षिणमार्गावलम्बी एवं काश्मीर सम्प्रदाय प्रधान है। बौद्धागम वाम मार्गावलम्बी एवं गौडसम्प्रदाय प्रधान है। वेदागम

मिश्रमार्गावलम्बी एवं केरलसम्प्रदाय-प्रधान है। वैदिक मतावलम्बी मान्त्रिक मंत्र की उत्पत्ति शिव जी से मानकर वेदागम को शैवागम भी कहते हैं। मंत्रशास्त्र के सम्प्रदायों को चक्रपूजा भी मान्य है। जैनों के काश्मीर सम्प्रदाय मे सिद्धचक, केरल सम्प्रदाय में श्रीचक्र एवं गौड सम्प्रदाय मे भैरवचक्र की पूजा की जाती है।

मन्त्रदीक्षा—गुरु के निकट शास्त्रोक्त विधि से मन्त्र लेने को मन्त्रदीक्षा कहते हैं। जिस सम्प्रदाय की विधि से दीक्षा ली गई हो उसी के अनुकूल साधना करने से मंत्र सिद्ध होता है।

मंत्रपीठिका—मंत्रशास्त्र मे निम्नाङ्कित चार पीठिकाओं का वर्णन मिलता हैं:— (१) श्मशानपीठ (२) शवपीठ (३) अरण्यपीठ (४) श्यामापीठ। मंत्र सिद्धि में पीठिका का होना भी परमावश्यक है।

(१) श्मशान-पीठ—श्मशान पीठ उसे कहते हैं जिसमें भयानक श्मशान में प्रति-दिन रात्रि मे जाकर यथाविधि मंत्र का जप किया जाता है। विवक्षित मंत्र-सिद्धि का काल शास्त्र मे जितने समय का बतलाया गया हो उतने समय तक नियम से उस श्मशान मे जाकर शास्त्रोक्त विधि से मंत्र सिद्ध करना आवश्यक है। भीरु साधक से यह साधना सम्पन्न होना नितान्त अशक्य है। इसके लिये बड़े दिलेर साधक की जरूरत पड़ती है। जैनियो के कुछ ग्रंथो मे कहा गया है कि सुकुमाल आदि मुनीश्वर उल्लिखित पीठ से ही परमेष्ठी महामंत्र को सिद्ध कर मुक्त हुए थे।

(२) शव-पीठ—किसी मृतक कलेवर पर आसन जमा मन्त्रानुष्ठान करना 'शव-पीठ' है। यह प्रायः वाममार्गियो का ही प्रधान पीठ है। कर्णपिशाचिनी, कर्णेश्वरी, उच्छिष्टचाण्डालिनी आदि कुदेवियो की सिद्धि इसी पीठासन से की जाती है।

(३) अरण्य-पीठ—मनुष्य-संचार-रहित सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुबहुल निर्जन एवं भयानक अरण्य मे निर्भय और एकाग्रचित्त होकर मंत्र साधना अरण्य पीठ है। निर्वाण-मंत्र की सिद्धि के लिये अरण्य ही प्रशस्त बतलाया गया है। इसीलिये निर्ग्रन्थ तपस्वियों ने आत्मसिद्धि के लिये एक निर्जन अरण्य को ही पसंद किया है। सुप्राचीन काल मे मुनि-महर्षि नगर-ग्राम आदि मे न रह कर सदा एकान्त वन मे ही निवास कर आत्म-साधना किया करते थे। इसी का परिणाम है कि नहीं चाहने पर भी अहमहमिकया बहुत सी सिद्धियाँ उन्हे आ घेरती थी। परिग्रह को एक सुदृढ़ एवं अविच्छेद्य बन्धन समझ कर ऐहिक सुख को लात मारने वाले, विषय-विरक्त वे तपस्वी अनायास प्राप्त उन सिद्धियों का लोकोपकारक सार्वजनीन कार्य मे ही उपयोग करते थे न कि अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के कार्य मे। बल्कि स्वयं भयानक से भयानक रोगादि से आक्रान्त होने पर भी उनसे मुक्त होने के लिये उन सिद्धियों का उपयोग कभी उन्होंने किया ही नहीं। वास्तव मे त्यागमय जीवन के लिये एकान्तवास ही सर्वथा उपयुक्त भी है।

(४) श्यामा पाठ—यह पीठ यदि वस्तुत सभी पीठों से दुर्गम एवं दुरूह कहा जाय तो इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस अन्तिम पाठ परीक्षा में कोई विरले ही महापुरुष अपनी असाधारण जितेन्द्रियता से उत्तीर्ण होते आये हैं। एकान्त स्थान में षोडशी नवयौवना सुन्दरी को वस्त्र रहित कर सामने बैठा मन्त्र सिद्ध करने को एवं अपने मन को तिलमात्र भी चलायमान न होने देकर ब्रह्मचर्य में दृढ रहने को श्यामा पीठ कहते हैं। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि द्वैपायन पुत्र मुनीश्वर शुकदेव आदि इस मन्त्र को सिद्ध कर विजयी हुए हैं।

यहाँ तक तो केवल मन्त्र शास्त्र के बाह्य अंगों की समीक्षा हुई, अब देखना है कि मन्त्र क्या चीज है और बड़े से बड़े लौकिक एवं पारलौकिक लाभ इससे किस प्रकार होते हैं। मन्त्र का सम्बन्ध मानस शास्त्र से है। मन की एकाग्रता पर ही इसकी नींव निर्भर करती है। मन को एकाग्र कर इन्द्रियों के विषय की ओर से लक्ष्य हटाकर मन्त्र साधन से वह सिद्ध हो जाता है। मन की चञ्चलता जितनी जल्दी हटेगी उतनी ही जल्दी मन्त्र सिद्ध होगा। महर्षियों ने मन्त्र शब्द की निरुक्ति—जिन विचारों से हमारा कार्य सिद्ध हो, वह मन्त्र है यों बतलायी है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि मन्त्र विद्या योग का एक अंग है। इस विषय के ममर्ज्ञों का कहना है कि मन के साथ वर्णोच्चारण का घर्षण होने से एक दिव्य ज्योति प्रकटित होती है और उन्हीं वर्णों के समुदाय का नाम मन्त्र है। इसीलिये मन्त्रशास्त्र का अर्थ 'विचार' कहा है। राजनीति शास्त्र में भी लिखा है कि जिन विचारों को गुप्त रख कर राज्यतन्त्र चलाया जाता है—वह मन्त्र है। यही कारण है कि राज्यतन्त्र के प्रधान सञ्चालक महामन्त्री एवं उनके सहायकों को 'मन्त्रिमण्डल' कहते हैं। मन्त्र का सिद्ध होना साधक की योग्यता पर निर्भर है। क्योंकि मन्त्रशास्त्र में लिखा है कि साधक का चतुर, जितेन्द्रिय, मेधावी, देवगुरु भक्त, सत्यवादी, वाक्पटु, निर्भय, दयालु, प्रशान्त, निष्काम, निष्कपट, निरहंकार, निरभिमान, परस्त्रीत्यागी और बीजाक्षरों के धारण करने में समर्थ होना चाहिये।

यन्त्र—अष्टगन्ध, लौह लेखनी आदि से भोजपत्र, रजत एवं ताम्रपत्रादि पर षट्कोण, अष्टदल, शतदल, सहस्रदल तथा त्रिकोण, चतुष्कोण या वर्तुल रेखाओं के भीतर बीजाक्षरों को लिखना उनका यथाविधि अभिषेक, पूजन, प्राण प्रतिष्ठा, मन्त्रपुष्पादि द्वारा साधन करना यन्त्रसाधन है। सिद्धचक्र, ऋषिमण्डल, गणधरवलय मृत्युञ्जय, कलिकुण्ड, वज्रपञ्जर एवं घण्टाकर्ण आदि यन्त्रों के अतिरिक्त प्रत्येक काम्य कार्य के लिये भिन्न भिन्न हजारों यन्त्र और भी बताये गये हैं। कहीं कहीं केवल मन्त्र और कहीं कहीं यन्त्र-मन्त्र दोनों काम में लाये जाते हैं। यन्त्र विद्या भी मन्त्रशास्त्र का ही एक अंग है और वर्ण या बीजाक्षरों को एकाग्रतापूर्वक लिखना ही इस साधक की मुख्य क्रिया है

तन्त्र—औषधियों के द्वारा कार्य सिद्ध करना तंत्रसाधन है। कितने ही तन्त्रों में यंत्र, मंत्र का भी उपयोग होता है। मंत्र यंत्र तथा तंत्र का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तंत्र भी मंत्र-शास्त्र का अंग ही है। अब मैं बतलाना चाहता हूं कि यंत्रमंत्रादि से कौन कौन से काम लिये जाते हैं और वे कुल कितने विभागों में विभक्त हैं।

(१) स्तम्भन (२) मोहन (३) उच्चाटन (४) वश्याकर्षण (५) जृम्भण (६) विद्वेषण (७) मारण (८) शांतिक (९) पौष्टिक। इस प्रकार मंत्र का प्रयोग प्रायः नौ प्रकार का होता है। स्तम्भन—जिस मंत्र-यंत्रादिक के प्रयोग से सर्प व्याघ्रादि श्वापद, भूत-प्रेतादि व्यन्तर, परचक्र (शत्रुसेना) आदि के आक्रमण का भय दूर होकर वे जहां के तहां निष्क्रिय में स्तम्भित रह जायँ उसे स्तम्भन कहते हैं। मोहन—जिस प्रयोग के द्वारा साधक किसी को भी मोहित कर ले उसे मोहन कहते हैं। मोहन प्रयोग के प्रधानतया तीन भेद हैं—(१) राजमोहन (२) सभा-मोहन (३) स्त्रीमोहन। उच्चाटन—जिस प्रयोग में किसी का मन अस्थिर, उल्लास-रहित एवं निरुत्साह होकर पद-भ्रष्ट एवं स्थान-भ्रष्ट हो जाय उसे उच्चाटन कहते हैं। किन्तु इस प्रयोग-द्वारा कोई प्रेमान्ध व्यक्ति अपने प्रेमपात्र का चित्तोच्चाटन करे तो इसका दुरुपयोग ही समझा जायगा। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष राक्षसादि पीडाप्रद व्यन्तरों को किसी पीडित प्राणी से दूर भगाने के लिये ही इस उच्चाटन प्रयोग की सदुपयोगिता कही जायगी। वश्याकर्षण—जिस प्रयोग से इच्छित व्यक्ति या वस्तु साधक के पास स्वयं चला आवे—उसका विपरीत मन भी अनुकूल होकर साधक के आश्रय में आ जाय, उसे वश्याकर्षण कहते हैं। इसके द्वारा सर्प, व्याघ्रादि तिर्यञ्च, स्त्री-पुरुषादि मनुष्य एवं भूतप्रेतादि व्यंतर आकृष्ट हो जाते हैं। जृम्भण—जिस प्रयोग के द्वारा शत्रु एवं भूत-प्रेतादि व्यंतर साधक की साधना से भयत्रस्त हो जायँ, दब जायँ, काँपने लग जायँ उसे जृम्भण कहते हैं। विद्वेषण—जिस प्रयोग से कुटुम्ब, जाति, देश आदि में परस्पर कलह और वैमनस्य की क्रांति मच जाय उसको विद्वेषण कहते हैं। मारण—आततायियों को मंत्रप्रयोग-द्वारा साधक प्राणदण्ड दे सके, उस प्रयोग को मारण कहते हैं। पर है यह बड़ा ही क्रूर प्रयोग! शांतिक—जिस प्रयोग के द्वारा भयङ्कर से भयङ्कर व्याधि, ब्रह्मराक्षसादि भयानक व्यंतरों की पीड़ा, क्रूरग्रह, जंगम एवं स्थावर विष-बाधा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्षादि ईतियों, और चौरभयादि प्रशांत हो जायँ उसे शांतिक कहते हैं। पौष्टिक—जिस प्रयोग के द्वारा सुख-सामग्रियों की प्राप्ति होती है उसे पौष्टिक प्रयोग कहते हैं। किसी किसी के मत से सांतानिक प्रयोग अर्थात् वंध्यात्व से मुक्त होना भी एक अलग प्रयोग माना गया है। परंतु बहुसंख्यक मांत्रिकों ने इसे उल्लिखित प्रयोग में ही गर्भित किया है। हाँ, यहां एक बात बतला देना परमावश्यक है कि इन नौ प्रयोगों में से सात्विक साधक मारण, मोहन आदि क्रूर कर्मों को पसंद नहीं करते। वे केवल लोकोपकार की दृष्टि से शांतिक, पौष्टिकादि सौम्य प्रयोगों का ही उपयोग करते हैं।

सम्मेद शिखरजी की यात्रा का समाचार

(लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन)

—— ❀ ——

जैनियों म तीर्थयात्रा के लिये चतुर्विध सघ निकालने का रिवाज पुरातन है। पहले पहल यह रिवाज कब अमल मे लाया गया, इसका पता लगाना अन्वेषक विद्वानों का काम है। हाँ, यह हम जानते हैं कि मध्यकालीन भारत म इसका अधिक प्रचार था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे प्राचीन भारत के जैनियो म यह प्रथा प्रचलित थी या नही? वास्तव मे यह एक स्वतत्र विषय है, जिसके लिये साहित्य का गहन अध्ययन और परिशीलन वाछनीय है। प्रस्तुत लेख में हम पाठक महाशयो के समक्ष एक तीर्थयात्रा सघ का परिचय उपस्थित करेंगे, जो विक्रमीय १९वा शताब्दी में मैनपुरी से सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये गया था।

मैनपुरी सयुक्त प्रात की आगरा कमिश्नरी का एक प्रमुख नगर है। वहाँ के ध्वसावशेषो से मैनपुरी एक प्राचीन नगर प्रतीत होता है। कहते हैं कि उसका प्राचीन नाम मदनपुरी था, वही नाम अपभ्र श भाषा म 'मन्नपुरि' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इससे अधिक उसका

मैनपुरी आरभिक परिचय कुछ भी नहा मिलता। हाँ, मुसलमानी जमाने म उसके अस्तित्व का पता चलता है और वह कन्नौज सरकार के अधान था। किन्तु जब से मैनपुरी में चौहान क्षत्रियों का आगमन हुआ तब से उसकी श्री वृद्धि खूब हुई। सन् १३६३ ई० में मैनपुरी का चौहान राजा प्रतापरुद्र नामक एक वीर क्षत्रिय था। बहलोल लोदी के राज्यकाल म वही मैनपुरी के प्रमुख जमींदार थे और उन्हीं के अधिकार म भोगाँव, पटियाली और कम्पिल भी थे। उनके पुत्र नरसिंहदेव थे, जिनका दरया खाँ लोदी ने सन् १४५४ म क़त्ल किया था। परतु इसपर भी उनकी सतान मैनपुरी की राज्याधिकारी बनी रही। गदर के जमाने में राजा तेजसिंह उन्ही का सतति में २१वें उत्तराधिकारी थे। राजा प्रतापरुद्र ने इस नगर को काफी उन्नत बनाया था—चौहानों का अपना पक्का किला बन गया था और उस किले के आसपास धीरे धीरे एक समृद्धिशाली नगर आबाद हो गया था। मथुरा से चौबे—ब्राह्मण, भौगाव से कायस्थ और करीमगज तथा कुरावली से सरावगी (जैनी) आ आकर बस गये थे। राजा जसवतसिंह ने सन् १७८९ ई० म अपने भाई मुहकमसिंह की याद में 'मुहकमगज' बसाया था। अग्रेजो ने गदर के बाद मैनपुरी के राज पद पर राजा तेजसिंह के चाचा भवानी सिंह जी को बिठाया था। अग्रेजी हाकिमों म

लेन सा० और रैकस सा० लोगों में बहुत ही प्रसिद्ध थे। रैकस (Raikes) सा० ने सन १८४८—१८५० ई० में 'रैकसगंज' बसाया था और उनके बाद लेन सा० ने 'लेन—टैंक' (तालाब) बनाया था। सन् १८७२ ई० में मैनपुरी में वैश्यों की संख्या ७८३३ थी, जिनमें अधिकांश जैनी थे।* ये जैनी अग्रवाल, खंडेलवाल, बुंदेलवाल आदि उपजातियों में बंटे हुए थे।

विक्रमीय १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध-भाग में वहां बुंदेले जैनियों की प्रधानता थी। उनमें भी 'रुइया' वंश के महानुभाव प्रमुख और राज्यमान्य थे। उस समय वहाँ चौहान-वंशी राजा दलेलसिंह जी का राज्य था; किन्तु मालूम ऐसा होता है कि दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के वह करद थे, क्योंकि तात्कालीन कवि कमलनयनजी ने मैनपुरी को आगरा सूबा, सरकार कन्नौज, चकला इटावा, परगना भीमगाम (भोगाँव) में अवस्थित लिखा है।† यह शासन-व्यवस्था मुगल-सरकार की थी, यह बात 'आईने अकबरी' के देखने से स्पष्ट होती है। उल्लिखित कवि कमलनयन जी हमें बताते हैं कि मैनपुरी के जनियों में तब साहु नंदराम जी प्रमुख थे। केवल जैनियों के ही नहीं, बल्कि वह पुरवासियों के सिरमौर थे। उन्हें वह काश्यपगोत्री नगरावार कहते हैं।‡ वर्तमान 'रुइया-वंश' के ज्ञात आदिपुरुष श्रीशिवसुखराय जी थे, जिनके पुत्र कुंदनदास और पौत्र नदराम थे। नंदरामजी ने रुई का व्यापार आरंभ किया था, जिस की वृद्धि उनके पुत्र साहु धनसिंह जी ने की थी। इस व्यापारिक सफलता के कारण ही साहु नंदराम का वंश 'रुइया' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। साहु नंदराम की संतति में साहु उलफतराय जी थे, जो लेखक (का० प्रसाद) के

रुइया-वंश

---

* See 'Statistical, Descriptive and Historical Accounts of the N. W. P. of India by E. T. Atkinson, Vol IV. pp 474-720.

† "आगरे के सूबे में चकला इटावा बसै, जाके सिरकार कन्नौज एक जानिये।
सिरही इटाए के परगनें में भीमग्राम, तिहमें मैनपुरी जहां राजै रजवानी। पैं—
नृपति दलेल सिंघ जाके कोई नाहि विगरेहि, सदा दान दीन दुखी पहिचानिये।"

—जसवन्त नगर के जैन मंदिर में विराजमान हस्तलिखित "जिनदत्त-चरित्र" में देखो

‡ "जाति बुंदेले वंश जदु। मैनपुरी सुख वासु॥
नगरावार कहावते, कासिप गोत सु तासु॥
नन्द राम इक साहु वहां, पुरवासिन सिरमौर।"

—देखो वराग चरित्र उपरोक्त मन्दिर में।

श्वसुर थे और जिनमें साहु नदराम का वंश वृक्ष और वृत्तांत उसे निम्न प्रकार ज्ञात हुआ था —
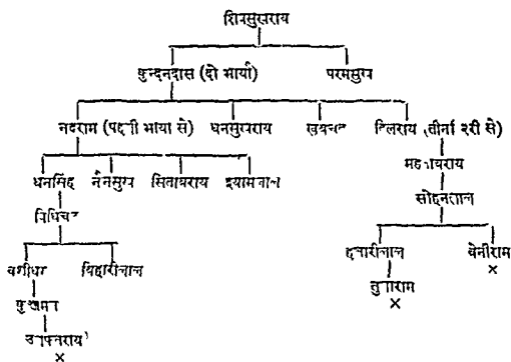
साहु धनसिंह जी एक व्यापारकुशल, पुरुषार्थी और धर्मात्मा सज्जन थे। उन्होंने अपने पिता नदराम द्वारा चालित रुई के व्यापार को खूब तरक्की दी। उनकी दूकानें फर्रुखाबाद, फरिहा, चान्दा आदि रुई के केन्द्र स्थानों पर थीं। इस व्यापार में उनको खूब लाभ हुआ। यहाँ तक कि उस समय उनके समान कोई दूसरा धनवान् न था। आजतक साहु धनसिंह के धनाढ्य होने की बात लोक प्रचलित है। पुराने लोग जब कभी अपने निकम्मे लड़के को इन शब्दों में ताड़ना देते मिलते हैं कि "जास सो तू साहु धनसिंह का बेटा होतो तो नीको थो, हुँअन तोय लड़ुआ—जनेथी तो खान का मिलते।" इस जनश्रुति से उनकी लोगों की समृद्धिशालीनता का पता चलता है। लेखक ने उनकी गगनचुम्बी विशाल 'हवेली' का एक अंश देखा था, किन्तु आज वह भी धराशायी है और अपने गर्भ में अज्ञात सम्पत्ति को लिये हुए अनुमानी जाती है। उसका वर्तमान ध्वंस रूप मानो यही चेतावनी देता है कि 'दुनियां के लोगो, घमण्ड न करो—यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है।'

धनाढ्य होने के साथ ही साहु धनसिंह धर्मात्मा सज्जन थे। वह निरंतर धर्म-कार्यों को करने में आनन्द मानते थे। उनके द्वार तीन भाई भी उनकी इच्छा के अनुरूप धर्मी-कर्मी और

विवेकी नर-रत्न थे। उन में सब से छोटे साहु श्यामलाल जी थे। ज्ञात होता है कि

संघपति

वह संस्कृत के विद्वान् थे, क्योंकि कवि कमलनयनजी को संस्कृत भाषा में रचे हुए 'जिनदत्त-चरित्र' का अर्थ जहाँ-तहाँ इन्होंने ही बताया था।* इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि कवि कमलनयन जी ने जिन नगराबार काश्यप गोत्री नन्दरामजी का उल्लेख किया है, 'वह रुइया वंशके ही थे, क्योंकि उन्होंने श्यामलालजी को साहु नन्दराम का पुत्र लिखा है, जैसे कि वे रुइया वंश-वृक्ष में भी बताये गये हैं। अच्छा तो, इन्हीं धर्मात्मा सज्जनोत्तम साहु धनसिंहजी का श्रीसम्मेद-शिखरजी तीर्थराज की वंदना सहधर्मी भाइयों के साथ करने का शुभ-भाव हुआ। लोगोंने यह समाचार चाव से सुना, क्योंकि उस ज़माने में तीर्थ-यात्रा करना अत्यन्त दुष्कर था। न तब तेज रफ्तार से चलनेवाली सवारियां थीं और न सड़कें ही पुख्ता और सुरक्षित थीं। भक्तजन तीर्थ यात्रा करने के लिये तरसते थे। बस, तब धर्मश्रद्धालु भव्यजनों को साहु धनसिंहजी का प्रस्ताव बड़ा रुचिकर हुआ। सर्वसम्मति से साहु धनसिंहजी के नेतृत्व में एक यात्रा-संघ मैंनपुरी से मिती कार्तिक कृष्णा पञ्चमी बुध वार संवत् १८६७ को सम्मेद-शिखर तीर्थ की यात्रा के लिये चला। कहते हैं कि इस यात्रा-संघ में करीब २५० बैलगाड़ियाँ और करीब १००० यात्रिगण थे। साहु धनसिंह जी ने उनकी हर तरह से सार-संभाल कर उपकार किया था।

पाठकगण शायद आश्चर्य करें कि यह पुरानी बात मालूम कैसे हुई? क्या यह केवल सुनी हुई बात है? वास्तव में यह केवल सुनी हुई बात नहीं है; बल्कि एक प्रामाणिक वार्ता

प्रमाण

है और इसका प्रमाण "श्री समेदसिखिर की यात्राका समाचार" नामक हस्त-लिखित पुस्तिकायें हैं, जो हमे अलीगञ्ज और मैंनपुरी के जैन-मंदिरों में देखने को मिली है। इन पुस्तिकाओं में उपर्युक्त यात्रा-संघ का पूर्ण विवरण पद्य में लिखा हुआ है। जिस पुस्तिका के आधार से हम लिख रहे है, उसका आकार ९।। × ४।। इञ्च है और उसका कागज देशी और मोटा है। उसमे लिखे हुये कुल ११ पृष्ठ हैं। आरम्भ में एक पृष्ठ बिना लिखा हुआ है। उसके बाद दूसरे पृष्ठ की दूसरी तरफ से रचना लिखी गई है। प्रत्येक पृष्ठ मे करीब १७-१८ पंक्तियाँ है। यह प्रति संवत् १८६९ वैसाख कृष्ण ४ गुरुवार की लिखी हुई है और इसे किन्ही 'भोलानाथ कायस्थ' ने लाला सोहन लाल के पठनार्थ लिखा था। उल्लिखित वंशवृक्ष देखने से ज्ञात होता है कि ला० सोहनलाल साहु धनसिंह के भतीजे थे। यह प्रति हमे स्व० पं० श्रीराजकुमार जी द्वारा प्राप्त हुई थी और अब हमारे पास है।

किन्तु खेद है कि इस यात्रा-समाचार रचना के रचयिता के नाम-धाम का पता कुछ भी नहीं

* "श्यामलाल के सहाइ पुत्र, नन्दराम गाई, अर्थ जिन दीइ बताय, नाहि जहां जानिया।"

—जिनदत्तचरित्र (जसवन्त नगर की प्रति)

चलता। रचना में कहीं पर भी लेखक ने अपना नाम सूचित नहीं किया है। फिर भी हमारा अनुमान है कि यह रचना बहुत करके कविवर श्रीकमलनयन जी की है, क्योंकि पहले तो वह साहु नन्दराम धनसिंह के समकालीन और उन से घनिष्ठता रखनेवाले थे और दूसरे उस समय मैनपुरी में हिन्दी में पद्य रचनेवाले वही मिलते हैं। इस रचना का सादृश्य भी उनकी रचनाओं से है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साहु धन सिंह कवि कमलनयन के सदृश धर्मात्मा सज्जन को संघ के साथ जरूर ले गये होंगे। इसलिये उन्होंने ही यात्रा का पूर्ण विवरण पद्यबद्ध किया होगा और साहु धन सिंह आदि ने उसे लिखवा कर मंदिरों और श्रावकों को भेट किया होगा। मालूम ऐसा होता है कि कमलनयनजी की रचनाओं को लिखवा कर यह महानुभाव सर्वसाधारण में प्रचलित कर देते थे, क्योंकि उनके समय की लिखी हुई प्रतियां मिलती हैं। अच्छा तो, इन कवि कमलनयन जी का परिचय पा लेना भी उपयुक्त है—यह परिचय केवल उन्हीं के ग्रन्थों से प्राप्त होता है और बहुत ही संक्षिप्त है। मैनपुरी के बुन्देले जैनियों से उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। उन के लिये यह एक नया समाचार था कि कोई कवि कमलनयन जी उनके मध्य हो गये हैं। जहां अपने निकटवर्ती मान्य पूर्वज का परिचय लोगों को प्राप्त न हो, वहां उन्हें अपनी जाति और कुल के महत्व और गौरव का भान भला क्या होगा? खैर, स्वयं कवि महोदय के अनुग्रह से हम जानते हैं कि वह (कवि कमलनयनजी) मैनपुरी के अधिवासी बुंदेले जातीय श्रावकोत्तम थे। उनके पितामह राय हरिचन्द थे और उनके पिता का नाम श्री ला० मनसुखरायजी था जो एक अच्छे वैद्य थे। इन मनसुखरायजी के दो पुत्र थे। जेठे पुत्र का नाम छत्रपति और छोटे का नाम कमलनयन था। कमलनयन जी ने कहीं-कहीं पर कविता में अपना नाम 'दृगकंज' भी लिखा है। उन्हाने जैनधर्म विषयक कई ग्रन्थों की भाषा रचना पद्य में की है, जिससे पता चलता है कि वह एक धर्मज्ञान लिये हुए विदुषी सज्जन थे।* उनके समय का बहुभाग धर्म विषयक चर्चा-वार्ता में बीतता था। एक समय

कवि कमलनयन

---

* "वासवपति वसु रस रंध्र चन्द्र पहिचानि। राज विक्रमादित्य नृप गत वर्ष गनि जानि॥
कातिक सुदि सुभ पंचमी कियौ ग्रंथ आरंभ। चैत्र कृष्ण तेरसि तिथी पूरन भयौ निदंभ॥

× × × ×

जाति बुंदेले जानिये बसैं महा धनवंत। नन्दराम आदिक बहुत साधर्मी गुनवंत॥
तिनही में इक जानियै नाम राय हरिचन्द। वैद्यकला परवीन अति मनसुख राय सुनन्द॥
तिनके सुत जेठे भए नाम छत्रपतिसार। तिन लघु भ्राता जानिये कमलनयन निरधार॥
एक समय निज वृन्द पुर गये प्रयाग मझार। मन में इच्छा यह भई कीजै देश विहार॥
तमीरपुरा प्रयागतें तहँ श्रावक बहु जाय। आगरवाले जातिवर बसैं महाजन साय॥

आप को देशाटन करने की इच्छा हुई और आप प्रयाग पहुचे। वहां अच्छा सत्संग पाकर आप रम गये। उस समय प्रयाग मे श्री विधिचन्द्र हीरामल जी नामक अग्रवाल जैनी बहु-प्रसिद्ध थे। हीरामल जी के पुत्र श्रीलाल जी थे। हमारे कवि की इनसे मित्रता हो गई। मित्रता इसलिये हुई कि श्रीलालजी उनकी नजर मे 'परम धर्म की खानि' थे। उन्हीं के आग्रह से कवि महोदय ने 'अढाई द्वीप के पाठ' की भाषा-रचना पद्य में रची थी। उनकी उपलब्ध रचनाओं मे यही सर्वप्राचीन है। बहुत संभव है कि यही उनकी पहली रचना हो, क्योंकि जब लालजी ने इस रचना का प्रस्ताव उनके सामने रखा था तो उन्होंने इसे दुष्कर जानकर अस्वीकार किया। परन्तु लालजी ने उन्हे जिनेन्द्र आज्ञा लेनेके लिये कहा। संभवतः उन्होंने इस आज्ञा के लिये जिनेन्द्र-पासाकेवली का उपयोग किया। जिनआज्ञा मिल गई— कमलनयन जी का उत्साह बढ़ गया—उन्होने 'अढाई द्वीप का पाठ' रच दिया। इसे उन्होंने संवत् १८६३ मे संपूर्ण किया था। इस समय वह युवावस्था की प्रारंभिक चंचलता को पार करके प्रौढ़ता को प्राप्त हुए प्रतीत होते हैं। इसके बाद उनकी उपलब्ध रचनाओं मे संवत् १८७३ की रची हुई (१) श्रीजिनदत्त-चरित्र और (२) श्रीसहस्रनाम पाठ नामक रचनायें मिलती है। उपरांत संवत् १८७६ मे उन्होने 'पंचकल्याणक-पाठ' रचा और संवत् १८७७ मे 'वारांग चरित्र' लिख कर समाप्त किया था। अनुमान होता है कि प्रयाग आदि नगरों का देशाटन करके वह ३ वर्ष मे लौटे होंगे और लौटने पर संवत १८६७ मे साहु धनसिंह जी के साथ सम्मेद-शिखर की यात्रा को चले गये। वहां से संवत १८६८ मे वह मैंनपुरी आये। मैंनपुरी आने पर उन्होने 'यात्रा-विवरण' लिखा। मालूम होता है कि फिर साहु श्यामलाल की संगति मे रह कर उन्होने 'जिनदत्त चरित्र' का ठीक-ठीक अर्थ समझा और संवत् १८७३ मे उसे रच कर समाप्त कर दिया। यह उनका संक्षिप्त परिचय है।

उपर्युक्त यात्रा-विवरण पुस्तिका को देखने से पता चलता है कि साहु धनसिंह जी के नेतृत्व मे मिती कार्तिक कृष्ण पंचमी बुधवार संवत् १८६७ को मैंनपुरी मे अनेक जैनियो का सघ श्रीसम्मेदशिखरादि तीर्थों कोयात्रा—वंदना के लिये रवाना हुआ था। उस रोज मैंनपुरी मे जलेब (रथयात्रा) हुई थी। भगवान् आदिनाथ जी की

यात्रा-विवरण

विधिचन्द्र नामा भले साधर्मी इक जानि। तिन सुत हीरामल्ल जी कीरतिवंत महान ॥
तिनके सुत हैं लालजी परमधर्म की खानि। अधिक प्रीति हमसौं करे पुन्य योग परमान ॥
एक समय बैठे हुते लालजीत हम दोय। उन विचार मनमे कियो जा सुनि अचरज होय ॥
सार्द्ध द्वीप-पाठ की भाषा सुगम सुढार। जो कीजै तो है भली यहो सीख उरधारि ॥
तब हमनै उनसौं कही सुनौ मित्र हम बात। यह कारज दुद्धर महा होय सके क्यों भ्रात ॥
फिर उन हमसौं यों कही जिन श्रुत आज्ञा लेहु। जो शुभ आवे वचनवर तो यह काज करेहु ॥"

—प्रशस्ति अढाई द्वीप का पाठ

मनोहर प्रतिमा को रथ म विराजमान कर सघ क साथ रक्खा गया था, जिससे यात्रा में जिन दर्शन का अन्तराय न हो। पहले ही संघ सरपरी गाँव म ठहरा था, जो मैनपुराक पास है। कार्तिक बदी १२ का महदी घाट पहुच कर उन्होंने गङ्गा पार की। कई घाटों से बहुत-सी नाव इकठा की गई परन्तु तब भी संघ दो रोज म पार उतर पाया। इससे उसकी विशालता का पता चलता है। कार्तिक सुदी १३ को सघ रतनपुर पहुचा, जिसे नौराही कहते थे। वहाँ से चल कर कार्तिक सुदी १४ को अयोध्या पहुचा, जहाँ खूब धूमधाम क साथ रथयात्रा निकाली गई। रथयात्रा में चम्मधारा चपरासी—सिपाही आदि भी थे। वस्तुत जैन रथयात्राओं क आगे शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हाथी, घोड, प्यादे आदि होना ही चाहिये, जैसा कि कवि ने लिखा है। पाच तीर्थङ्कर भगवान के जन्मस्थान पृथक् पृथक थे—सघ ने उनकी वदना की थी। पश्चात् मगसर वदी १५ को बनारस पहुचा और भेलूपुरा क मन्दिर के निकट ठहरा। यहा भी रथ यात्रा निकाली गयी थी और धर्मचक्र का पाठ किया गया था। वदना करके सघ आगे चल कर पौष वदी ४ को पटना पहुचा। वहा खूब जोर की वर्षा हुई जिसके कारण सघ एक सप्ताह तक वहा ठहरा रहा, फिर चल कर पौष शुक्ल ४ को सघ न पावापुर की वदना की। सघ जल मदिर क निकट ठहरा था और उसक पहले चौक म आदि जिनन्द्र की प्रतिमा विराजमान करके सघ ने पूजा भजन किया था। जल मदिर का कवि ने खूब ही सूक्ष्म वर्णन किया है। आगे इसी महीने की नवमी को सघ राजगृह पहुचा और वदना की थी। यहाँ सघ ने समोशरण पाठ विधान किया था। उपरात माघ वदी २ को सघ नवादा पहुचा था। वहा गौतम स्वामी की वदना करके सघ माघ वदी १३ को पालगज पहुचा था। वहा राजा सुदर्शन सिंह जी थ। सघ उन से मिलकर आगे गया था। माघ सुदी ३ को मधुबन मे डेरा किया गया था। वहा सघ ने चार चैत्यालयों की वदना की थी। वसत पञ्चमी को सघ न श्री सम्मेद शिखरपर्वत की वदना की थी। उसका भी पूरा विवरण कवि ने लिखा है जिसस प्रकट है कि तब बीच म नीचे तलहटी के मदिर की वदना भी दिगम्बर जैनी करते थे। पर्वत वदना स लौट कर मधुबन म धर्मोत्सव मनाया गया और रथयात्रा निकाली गई, जिसमें पालगज के राजा भी सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार सानन्द पूजा वन्दना करके माघ सुदी पूनम को सघ ने मधुबन से प्रस्थान किया। फागुन वदी ८ को वैजनाथपुर आये। यहाँ शिव की वदना करने अन्यमती लोग अधिक सख्या म आते लिखा है, परन्तु वहा भी सघ को पार्श्व भगवान् के दर्शन हुये थे। कवि कहते हैं कि —

> "पडन मठ मदिर माही—प्रतिबिंब जिनेश्वर आही।
> तिनको भी शिवजु कहै हैं—नित सेवा माहि रहे हैं॥"

शायद अब भी वह जिनमूर्ति वहा के पडा लोगों क पास होगी। इस प्राचीन मूर्ति का

पता लगाना उचित है। फाल्गुन सुदी पड़वा को संघ चंपापुर पहुंचा था। वहां की वंदना करके फाल्गुन सुदी ४ को संघ वापस हुआ और बाढ़-नामक नगर में पहुंचा। यहां पर पहले जाते हुए पटना के जैनी लोग श्रीजी-सहित आकर यात्रासंघ मे मिले थे और साथ साथ वंदना कर आये थे। वह अब यहां से अपने घरो को चले गये। सचमुच उस दुष्कर काल मे तीर्थ-यात्रा करना सुगम न था। पटना के श्रावकों ने इस सुयोग से लाभ उठाया। कैसा वह पुण्यमय अवसर था! उन सहधर्मी भाइयों को श्रीजी के साथ विदा करते समय रथयात्रादि उत्सव किया गया था। श्रावकों ने परस्पर वात्सल्य धर्म का परिचय दिया था—जरा विचार कीजिये उस अनूठे अवसर को—मुक्तकंठ से कौन नहीं कहता होगा तब 'धन्य-धन्य साधर्मी जन मिलन को घरी।' वहां से विदा हो संघ काशी में आकर ठहरा। नौ रोज वहां विश्राम करके चला सो महदी घाट पर उसने गङ्गा-पार किया। वैसाख वदी ७ को गङ्गाधरपुर मे संघ ठहरा और वैसाख वदी १२-१३ को वापस मैनपुरी पहुंचा। कवि कहते हैं कि देश-देश के लोग सब अपने-अपने घर को वापस गये और वह यह भी बताते हैं कि इन सबका साहु धन सिंह ने ओर-छोर उपकार किया था। धन्य थे वह महानुभाव, जिन्होंने साधर्मीजनो की सेवा मे अपना तन-मन धन लगाया था और उनके लिये धर्मसाधन का परम योग उस जमाने में दुर्लभ सम्मेद शिखर जैसे तीर्थराज की यात्रा का सुयोग सुलभ किया था। सहस्रकण्ठारव जिनेन्द्र के पवित्र नाम से दिशाओं को पवित्र बना रहा था। यह सुअवसर अधिकाधिक संसार मे सुलभ हो, यही भावना इस "सम्मेद शिखिर यात्रा का समाचार" पढ़ने से हृदयमे जागृत होती है।
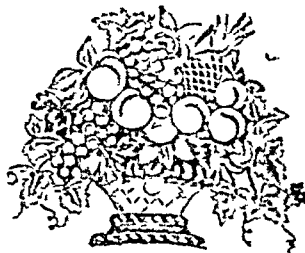
बंगाल में जैन धर्म

(लेखक—श्रीयुत सुरेशचन्द्र जैन, बी० ए०)

बंगाल में जैनधर्म की गति विशेष रही है। यहाँ मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम और वर्द्धमान इन चारों जिलों के नामकरण भगवान महावीर या वर्द्धमान के नाम के आधार पर ही हुए हैं। चौबीस तीर्थंकरों में से बीस ने हजारीबाग जिला के अंतर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ के सम्मेदशिखर पर से निर्वाण प्राप्त किया है। 'आचारांग-सूत्र' से विदित है कि राढ़ देश के वज्रभूमि और सुम्भभूमि नामक प्रदेशों में विहार करते हुए भगवान महावीर को अनेकानेक कठिनाइयां उठानी पड़ी थी, उन्हें कठोर यन्त्रणायें सहन करनी पड़ी थी और कठिन से कठिन कार्य्य करने पड़े थे। यह प्रदेश यात्रियों के लिए दुर्गम था और मुनियों के प्रति यहाँ के निवासियों का व्यवहार अत्यन्त ही क्रूर एवं करुणोत्पादक था। ये लोग निस्सहाय मुनियों के पीछे कुत्ते को छोड़ देते थे और इनसे अपनी रक्षा करने के हेतु असहाय मुनियों को बांस की फराठियों का सहारा लेना पड़ता था। अतः एव यह ज्ञात होता है कि वर्द्धमान महावीर के समय में बंगाल में जैनधर्म की जाग्रति, प्रगति तथा उन्नति हो रही थी।

सन् ९३१ ई० पूर्व में श्रीहरिषेण ने 'बृहत्-कथा-कोष' नामक एक महान् ग्रंथ रचा था। उससे प्रकट है कि सुविख्यात जैनाचार्य एवं मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजगुरु श्रीभद्रबाहु जी पुण्ड्रवर्धन देशांतर्गत देव कोटी नगरी के रहने वाले एक ब्राह्मण के पुत्र थे। एक दिन जब भद्रबाहु अपनी बाल्यावस्था में देवकोटि के अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे तब चतुर्थ श्रुतकेवली श्रीगोवर्धन ने उन्हें देखा था और उनको देखते ही उनके मन में इस बात की पूर्ण धारणा हो गई थी कि यह बालक पंचम श्रुतकेवली होगा। ऐसी धारणा मन में उत्पन्न होते ही उन्होंने श्रीभद्रबाहुजी के पिता की अनुमति से उनको तत्काल ही अपनी हिफाजत में रख लिया और कुछ समय बाद यही बालक पंचम श्रुतकेवली के रूप में श्रीगोवर्धनजी का उत्तराधिकारी हुआ। पुण्ड्रवर्धन ग्राम में एक निर्ग्रंथ के दोष के कारण अट्ठारह हजार मनुष्यों की हत्या का जो वर्णन 'दिव्यावदान' नामक बौद्धग्रन्थ में किया गया है उसकी सत्यता पर विश्वास हो अथवा नहीं परन्तु उससे इतना पता तो अवश्य मिलता है कि तृतीय शताब्दी के पूर्व में उत्तरीय बंगाल जैनियों से भरा था।

'अंगुत्तरनिकाय' के सोलह महाजन पदों में जिन भिन्न भिन्न देशों को गिनाया गया है उसमें अंग और मगध की गणना पूर्वीय प्रांतों में की गई है। जैन 'भगवती-सूत्र' में भी

पंद्रहवे परिच्छेद मे जिन सोलह देशों का वर्णन है उनमे भी अंग, वंग और लाधा (राढ़) का उल्लेख देख कर प्रत्यक्ष रूप से इस बात की अविचल धारणा होती है कि आदि काल में बंगाल के साथ जैनियों का सम्पर्क बौद्धों से कहीं अधिक था। 'कल्पसूत्र' में तामलित्या, कोटिवर्षीया, पौंड्रवर्धनीया और खावदीया को जैन भिक्षुओं के गोदासगण की चार शाखायें मानी गयी है। ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष और पुंड्रवर्धन क्रमानुसार मिदनापुर, दिनाजपुर और बोगरा जिलों में हैं और पश्चिमीय बंगाल में स्थित वर्तमान खर्वोर को प्राचीन खावाडीया माना गया है। जैन उपाङ्गो मे तामलित्ति और वग आर्य्य लोगों की भूमि माने गये हैं। इस प्रकार साहित्यावलोकन से यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि महावीर के समय से जैनधर्म का प्रचार तीव्र वेग से होने लगा, जैनधर्म-वीरों की संख्या बढ़ने लगी और बंगाल के प्रत्येक भाग में जैनियो की सत्ता समूल स्थापित होने लगी। यदि 'आचाराङ्ग-सुत्त' में वर्णित जैन मुनियों पर किए गए अत्याचारो पर विश्वास किया जाय तब यह मानना ही पड़ेगा कि पूर्व काल मे जैनियो को कटकाकीर्ण पथ का पथिक बनना पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन मुनियों को अनेकानेक कठिनाइयों सहन कर धर्म का प्रचार करना पड़ा था। परन्तु साथ ही साथ देश के कोने कोने में जैनधर्म का विस्तार देखते हुए यह भी मानना पड़ता है कि अन्त मे सत्य की ही विजय हुई और जैनधर्म की निर्मल एवं पवित्र-पताका विधर्मियों के खण्डहरों-पर फहराने लगी।

यद्यपि क्रिश्चियन युग के बाद (after Christian Era) चन्द्रगुप्त अथवा खारवेल जैसे जैन-संरक्षक नृपति दीख नही पड़ते तथापि लोकमत की यह धारणा है कि जैनधर्म पूर्वीय भारत से लुप्तप्राय हो गया था यह सर्वथा असंगत है। मथुरा के पुरातन शिलालेख मे पता चलता है कि सम्भवत. सन् १०४ में 'रारा' के एक जैन मुनि के आग्रह पर एक जैन प्रतिमा की स्थापना हुई थी। पहाड़पुर के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि एक ब्राह्मण-दंपति ने 'वाट-गोहाली' के विहार में चंदनादि से जैन तीर्थंकरों की पूजा के लिए कुछ भूमि प्रदान की थी। काशी की पञ्च-स्तूप-शाखा* के निर्ग्रन्थ गुरु गुहनंदी के शिष्य के शिष्यों ने इस विहार के सभापति का आसन ग्रहण किया था। पहाड़पुर की ताम्रलिपि का अध्ययन यदि 'ह्युएनचॉग' की यात्रा-सबंधी विवरण के साथ-साथ किया जाय तो पता चलेगा कि पुंड्रवर्धन, सातवी शताब्दी तक, जैनियो का एक बृहत्, शक्तिशाली और प्रतिष्ठित केन्द्र था।

'ह्युएनचॉग' ने तत्कालीन धर्मों तथा उनसे संबद्ध संस्थाओ के विषय मे अपने जो मार्मिक, भावपूर्ण एवं विवेचनात्मक विचार प्रकट किए हैं वे सदा आदरणीय हैं और यदि

*श्रीजिनसेनाचार्य ने भी अपने को 'पंचस्तूपान्वयी' लिखा था और वह नंदिसंघ के आचार्य थे। सभव है कि गुहनंदि भी इसी संघ और शाखा के हों। संपादक

उन गूढ़ एवं प्रभावशाली विचारों के आधार पर तत्कालीन प्रचलित धर्मों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय तो हम एक ऐसे निश्चित, अटल और अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचेंगे जो हमारी धार्मिक प्रौढ़ता को और भी अधिक प्रौढ़, हमारे अटल विश्वास को और भी अधिक दृढ़ तथा हमारे धार्मिक दृष्टिकोण को और भी विस्तृत तथा दूरदर्शी बना देगा। किन्तु हम इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अपने वृत्तांत में 'ह्युएनचाँग' ने बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म विशेष पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला है और निर्ग्रंथों का वर्णन तो कहीं कहीं केवल प्रसंग-वश ही आ गया है। इतने पर भी उस बौद्ध परिव्राजक ने लिखा है कि वैशाली, पुण्ड्रवर्धन, समतट और कलिङ्ग देशों में निर्ग्रंथों की संख्या असंख्य थी। अत एव यह प्रत्यक्ष है कि सातवीं शताब्दी में इन्हीं भू भागों में जैनों की संख्या सब से अधिक थी। इस चीन परिव्राजक ने भारत के और किसी भी प्रान्त में निर्ग्रंथों का उल्लेख विशेष रूप से नहीं किया है। परन्तु उनके यह लिखने से कि और और प्रान्तों में भिन्न—भिन्न धर्मावलम्बी मिल-जुल कर रहते थे—यह सिद्ध होता है कि उन भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों में जैनधर्मावलम्बी भी अवश्य सम्मिलित रहते होंगे। इस विषय पर उनके मौन रहने से यह कभी भी नहीं माना जा सकता कि पूर्वीय भारत के अन्य भागों में जैनियों की कमी थी। 'ह्युएनचाँग' ने अपने 'राजगृह' के विवरण में जैनियों की कुछ भी चर्चा नहीं की है किन्तु 'विपुला' पहाड़ के पास उन्होंने बहुत से निर्ग्रंथों को देखा था। आज भी बहुत से दिगम्बर जैनी यहाँ आते हैं, ठहरते हैं और पूजनादि करते हैं। केवल जैन साहित्य में ही नहीं, 'राजगृह' बौद्ध साहित्य में भी विख्यात है और आज भी यह जैनियों का एक अत्यन्त ही रमणीक एवं पवित्र तीर्थ स्थान है। इस स्थान के समीप अनेक जैन प्रतिमाएँ पायी जाती हैं। 'वभार' पर्वत पर गुप्तवंश के समय की चार जैन प्रतिमाएँ हैं। ८वीं, ९वीं, और १२वीं शताब्दियों की भी जैन प्रतिमायें वहाँ पर पायी जाती हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि मुसलमानों के राज्यकाल में भी जैनियों ने 'राजगृह' में जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी।

७ वीं शताब्दी के बाद बंगाल में जैनधर्म की क्या दशा थी इस विषय पर हमलोग पूर्ण अंधकार में हैं। इसका विकास, इसका पतन अथवा दूसरे धर्मों के साथ इसका मिश्रित हो जाना ये सभी बातें अतीत के अंधकार में विलीन हो गए हैं। इस संबंध में दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मों की कहानी अत्यन्त ही रोचक है। आरंभ में भगवान् 'महावीर' और 'मांखलीपुत्त गोसाल' में चाहे जिस प्रकार का व्यवहार रहा हो परन्तु आगे चलकर भिन्न भिन्न दो धर्मों के प्रवर्तक होने के कारण दोनों का पारस्परिक व्यवहार यदि घोर कठोरता और शत्रुता का न था तो इसमें भी संदेह नहीं कि इनके परस्पर के व्यवहार में मित्रता तथा सज्जनता भी न थी। यदि 'भगवती' में वर्णित 'गोसाल' और 'महावीर' के वार्त्ता पर विश्वास किया जाय तो

यह मानना पड़ेगा कि ये दोनों 'राधा' के एक भाग 'वज्र-भूमि' में स्थित 'पनित-भूमि' में सात वर्ष तक साथ-साथ रहे। 'राधा' में भ्रमण करते हुए 'महावीर' ने अनेक संन्यासियों को हाथ मे बाँस की फराठी लिये हुए देखा था। 'पाणिनि'-द्वारा वर्णित 'मस्करिण' नामक ये सन्यासी जैन आजीविक थे।* अतएव यह पता लगता है कि 'महावीर' के समय से छठवी शताब्दी के पूर्व मे भी आजीविक लोग पश्चिम बंगाल में अपना धर्म प्रचार कर रहे थे। अशोक और दशरथ आदि मौर्य्य सम्राटों ने भी समय समय पर इन आजीविकों को इनके प्रचार-कार्य्य में सहायता दी थी और 'नागार्जुनि' एवं 'बाराबर' की गुफाओं से पता चलता है कि ईसा के ३०० वर्ष पूर्व के उत्तरीय भारत में इन आजीविकों के धर्म्मानुगामियों की कमी न थी।

'भगवती' मे 'पुण्ड' देशांतर्गत 'महापौम' (महापद्म) के एक राजा का उल्लेख है। इनको आजीविकों का संरक्षक बतलाया गया है। 'पुण्ड' विन्ध्य पर्वत की तराई में बतलाया गया है। साथ ही साथ 'महापौम' की राजधानी में एक सौ सिंहद्वारों का होना कहा गया है। 'पुण्ड' के नाम से ही पता चलता है कि संभवतः यह 'पुंड्र' ही था और इसकी भौगोलिक स्थिति, जो कि 'विन्ध्य' पर्वत के पास बतलायी गयी है, नगण्य मानी जा सकती है। पुंड्रवर्द्धन अथवा आधुनिक फिरोज़ाबाद में एक निर्ग्रंथ के दोष के कारण अशोक-द्वारा १८००० आजीविको की हत्या किये जाने के वृत्तांत की सत्यता मानी जाय चाहे नही परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि यहाँ भी आजीविको का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। इन सबों से अधिक महत्त्व रखनेवाली बात यह हुई कि तत्कालीन लोगों ने आजीविकों को पहचाना ही नही और उन्हे ही निर्ग्रंथ समझ बैठे। उन दोनों के आचार, व्यवहार, रहन-सहन तथा धर्मकार्य्यों में इतनी समानता थी कि लोगो को एक दूसरे के पहचानने में कठिनाई होने लगी। इसी कारण हमलोग भी डाक्टर वेणीमाधव बरुआ की ही सम्मति से सहमत हैं कि 'दिव्यावदान' के संपादन के समय निर्ग्रंथों तथा आजीविकों के आचार-विचार तथा सिद्धांतों में इतनी कम असमानता थी कि उन दोनों को पृथक् पृथक् पहचान लेना एक प्रवासी बौद्ध भिक्षुक के लिये कठिन था। दक्षिण भारत के आजीविकों की गणना तो जैन-ग्रंथकारों ने बौद्ध भिक्षुकों की ही एक संप्रदाय में की है। ऐसी अवस्था मे यह समझ लेना कि 'ह्यु एनचाँग' ने अनेक आजीविकों को ही जैनी समझ लिया कुछ अत्युक्ति न होगी, वरन् स्वाभाविक ही होगा।† अधिक अध्ययन करने से पता चलता है कि

* आजीविक संप्रदाय जैनमत से भिन्न था, यद्यपि उसका निकास जैनमत से ही हुआ था—उसका संस्थापक एक समय जैन मुनि था।—संपादक

† बंगाल में जैनधर्म के ह्रास का एक कारण भले ही वह हो। परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि

जैनियों और आजीविकों में बहुत कम भेद था। उस समय अन्य अन्य धर्मावलम्बियों का भी जोर बढ़ रहा था और इस बात की अत्यन्त आवश्यकता थी कि आजीविकों तथा जैनियों में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे। अन्य धर्मावलम्बियों के आक्रमण को रोकने और उनका सामना करने के लिए इन दोनों सम्प्रदायों का परस्पर सम्मिलित हो जाना बहुत सम्भव था। बौद्धयतिकों के कट्टर शत्रु देवदत्त ने जो एक पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की थी वह भी सातवीं शताब्दी में बौद्धधर्म में प्रायः सम्मिलित हो हो गयी थी और एक अबौद्ध के दृष्टिकोण से देखने पर उन दोनों सम्प्रदायों में कुछ अन्तर न था। उसकी आँखों में तो केवल बौद्धधर्म ही बसा था। यद्यपि आज भी प्रमाणों की कमी है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि कुछ ही समय के बाद जैनधर्म, बौद्ध तथा वैदिक धर्मों में ही अन्तर्हित हो गया था।* प्राचीनकाल में 'पहाड़पुर' का मठ जैनियों का ही सम्पदा थी, इनके द्वारा ही इसका निर्माण हुआ था परन्तु अन्त में यह बौद्धों के ही अन्तर्गत हो गया और उत्तर बंगाल में 'सोमपुर' के बौद्ध विहार के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

'ह्यु एनचाँग' के अपनी यात्रा का वर्णन लिखने के बाद से जैन तीर्थङ्करों की कुछ प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैनियों के अस्तित्व का यहाँ कुछ भी पता नहीं चलता। श्रीराखालदास बनर्जी के मतानुसार बंगाल में केवल चार ही जैन प्रतिमायें हैं। किंतु उनका यह मत वर्तमान लोकमत के विरुद्ध है। क्योंकि श्रीयुत के० डी० मित्रा ने 'सुन्दरवन' के एक भाग में खोज (Exploration) द्वारा जो ऐतिहासिक अन्वेषण किये हैं उनमें 'सुन्दरवन' के उसी भाग में ही दस जैन प्रतिमाओं का और भी पता चला है। 'सुन्दरवन' के केवल एक भू भाग में एक साथ दस प्रतिमाओं के मिलने को यदि 'वरेन्द्रपुर' में प्राप्त ताम्रपत्रों के प्रमाणों के साथ मिलाकर गूढ़ विचार किया जाय तो पता चलेगा कि 'ह्यु एनचाँग' ने जिस 'समतट' नगरी में निर्ग्रंथों को अधिकाधिक संख्या में देखा था उसमें उत्तर पश्चिमीय सुन्दरवन भी सम्मिलित था। बाँकुरा और वीरभूम जिलों में अभी भी प्रायः जैन प्रतिमाओं के मिलने का समाचार पाया जाता है। श्रीराखालदास बनर्जी ने भी इस क्षेत्र को तत्कालीन जैनियों का एक प्रधान केन्द्र बताया है। बंगाल में प्राप्त इन बीस प्रतिमाओं में से केवल एक श्वेताम्बरी प्रतिमा है। इससे यह पता चलता है कि वहाँ दिगम्बरों की संख्या श्वेताम्बरों से बहुत अधिक थी। वहाँ श्रीऋषभनाथ जी या श्रीआदिनाथ जी, श्रीनमिनाथ जी, श्रीशांतिनाथ जी

सब जैना वैष्णव या बौद्ध हो गये थे। बंगाल के सराक लोग आज तक प्राचीन जैनों के स्मारकरूप से हैं। —सम्पादक

* ह्यु एन चांग ने स्पष्ट शब्दों में उन साधुओं को निर्ग्रन्थ लिखा है, इसलिये उन्हें आजीविक अनुमान करना गलत है। —सम्पादक

तथा श्रीपार्श्वनाथजी की प्रतिमाये पायी गयी है और इनमें श्रीपार्श्वनाथ जी की प्रतिमा सब से अधिक लोकप्रिय है। मूर्तियों के आकार-प्रकार, उनमें अङ्कित चिह्नों, उनके पार्श्ववर्ती शिला-लेखो तथा उनके नग्नत्व से वे जैनियो की ही प्रमाणित मूर्तियाँ मानी जाती है।

मूर्ति-निर्माणकला के अध्ययन से पता चलता है कि बंगाल की सभी जैनमूर्तियाँ 'पाल' राज्यवंश के समय की है। तुलनात्मक रूप से विचार करने से पता चलता है कि उस काल की जितनी धार्मिक मूर्तियाँ पाई गयी है उनमें जैन प्रतिमाओं की संख्या बहुत ही कम है और यही जैनियो के अल्प संख्या में होने का प्रमाण है।※ इस में अब कुछ भी संदेह नही रह गया है कि 'पाल' राज्यवंश के शासनकाल के आरंभ से ही जैनियों की संख्या दिन प्रतिदिन क्षीण होती गई और उसी समय से बंगाल में जैनधर्म की अवनति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। तब से आजतक बंगाल में जैनधर्म की अवनति ही होती आई है और उसके प्रमाण- स्वरूप आज का बंगाल और उसका जैनधर्म सब के समक्ष उपस्थित है।†

※ अभी पूरी खोज ही कहां हुई है? फिर भी बंगाल के भिन्न-भिन्न जिलों के गजेटियरों से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान पर अनेक प्राचीन जैन चिह्न विद्यमान हैं। —संपादक

† 'इण्डियन कल्चर' जनवरी १९३७ में प्रकाशित 'Jainism in Bengal' का रूपान्तर। —लेखक

ऐतिहासिक प्रसंग

(स०—श्रीयुत प० के० भुजबली शास्त्री)

7TH CENTURY A D

(१) महेन्द्र वर्मा, (पल्लव वंशीय) जो समवत जैनी था, ई० सन् ६१० म हुआ। उसने शैव होने पर साउथ आर्काट के अन्तर्गत पाटलीपुत्र (Pathputtıram) के एक बडे जैनमठ (the large Jain monastry) को नष्ट किया।

Ref Smith Early history of India P 472

(२) चीन का बुद्धयात्री ह्वेनसग (Hiuen Tsang) ई० सन् ६३० में भारतवर्ष में आया और ६४४ तक रहा। उसने जैनियों के सम्बन्ध म बहुत सी बातें लिखी हैं और सिंहापुर Singhapur (murtı ın the salt region) मे एक श्वेताम्बर मदिर का उल्लेख एव कलिङ्गदेश में जैनधम के प्रचार को सूचित किया है और साथ ही साथ दक्षिण भारत में हर जगह दिगंबर सम्प्रदाय के अनुयायियों से मिला है।

Ref Beal Siyuki I 144 etc. vol II P 205 etc. V F J IV P 80

(३) ऐहोले (Aihole) का शिलालेख शक सवत ५५६ म लिखा गया, जिसको जैनकवि रविकीर्ति ने रचा। उसम रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि की बराबरी का दावा किया है। यह शिलालेख जैन मदिर के बनने के सबध का है। पश्चिमी चालुक्य पुलकेशी द्वितीय सत्याश्रय के राजत्वकाल म लिखा गया।

Ref Ep Ind VI P 4

(४) 655 A D Terrible persecution of the Jains in the Deccan by Kuna Sund or nedumaram Pāndya a Jain convert to Saivism assigned to about this period (655A D) by the scholars

Ref smith Early History of India (1914) P 454—5 cp Ind Ant. II P

(५) बसन्तगढ से निकली हुई दो पीतल की जैनमूर्तियाँ इस समय पींडवाडा (सिरोही) के जैनमदिर में हैं, जिन पर वि० स० ७४४ के लेख हैं।

Ref ओझा० सिरोही का इतिहास पृ० ३१-३२

8TH CENTURY A D

(६) Śaka Era 656 (734 A.D) Inscription of Vikramaditya II Western Chalukya mentioning the restoration of the temples of Pulikere and conveying gifts (apocryphal) Ref Guerinot no 114

(७) शांतरक्षित नाम के बौद्ध नैयायिक ने अपने तत्वसंग्रह-कारिका नामक ग्रंथ में (749 A D) दिगंबर (जैन) के जीव-संबंधी सिद्धांत की आलोचना की है।

Ref विद्याभूषण, इण्डियन लाजिक P. 125.

(८) शक सं० ६९८ (776 A D.) में पश्चिमी गंगवंशीय राजा श्रीपुरुष ने श्रीपुर के जैनमंदिर को जो दान दिया उस के प्लेट (पत्र) लिखे गये।

Ref Guerinot no 121.

(९) ई० सन् ७८४ में वत्सराज (Vatsarāja) प्रतिहार कन्नौज में हुआ। वि० सं० १०१३ के एक शिलालेख में लिखा है कि उसने ओसिआ (Osia) में एक जिन-मंदिर बनवाया। Ref Arch Surv Ind Annual Rep 1906–7, pp 209, 42.

(१०) शक संवत् ७१९ (797 A D) में श्रीविजय ने, जो कि पश्चिमी गंग वंशीय मारसिंह का जागीरदार (feudatory) था, एक जैनमंदिर बनवाया।

Ref Guerinot no 122

9TH CENTURY A D

(११) शक संवत ७३५ (812 A D) में गंगवंशीय राजा 'चाकिराज' की प्रार्थना (विज्ञप्ति) पर राष्ट्रकूट वंशोद्भव द्वितीय प्रभूतवर्ष, तृतीय गोविन्द ने एक गाँव विजयकीर्ति मुनि के शिष्य अर्ककीर्ति को जिनेन्द्र मंदिर के लिये दिया। यह मुनि यापनीय नन्दिसंघ के पुन्नाग-वृक्षमूल गण के थे।

दानपत्र का नाम (Kadaba, maisur plates) Ref. Ind Ant. XII, P. 13
Epi Ind. IV, P. 340.
(प्राचीनलेखमाला प्रथम भाग, पृष्ठ ५१—५२)

(१२) शक संवत् ७४३ में सूरत का दानपत्र लिखा गया, जिस में गुजरात के राष्ट्रकूटवंशी ककराज प्रथम ने कुछ भूमि का नागप्रिका nagaprika (नवसारी Navsari) के जैनमंदिर को दान दिया है।

Ref Bom Gaz. I, I, (Hist of Guz J. P. 125)

(१३) शक सं० ७८२ (860 A D) में कोन्नूर (Konnur) का शिलालेख लिखा गया। जिस में राष्ट्रकूटवंशी महाराजाधिराज अमोघवर्ष प्रथम की तरफ से देवेन्द्र नाम के दिगंबर जैन को एक गाँव दान किया गया (apocryphal) Ref Ep Ind VI, P 29.
Imperial Gazetteer of India, II. P 9 f.

(१४) घाटियाला जैन प्राकृत शिलालेख—समय वि० सं० ९१८ (861 A D) पडिहार राजा कक्कुक ने एक जैनमंदिर बनवाया और उसे धनेश्वर गच्छ को दे दिया।

Ref Ramkarana, J. S S. Rep. P. 1.

(१५) A Vir 1400 Jeṣṭhbhuti disappearance of Kalpavyavahara sutra (कल्पव्यवहारसूत्र)। Ref P R III app P 22 IV Ind P XLVII

(१६) Vik. Sam 919 Deogaḍh pillar inscription of Bhojdeva of Kanouj It records that in the reign of Bhojdeva while Luachchha gira was governed by the great feudatory Vishnuram the pillar which contains the inscription was set up near the temple of Shānti nath at Luachchhagiri (Deogadh) by Deva a pupil of the Acharya Kamaldeva

Ref Ep Ind Vol IV P 309—10

(१७) सौंदत्ति (Saundatti) का शिलालेख—समय शक सं० ७९७। इसमे राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय के मातहत शासक (Governor) पृथ्वीराम ने, जो सौंदत्ति और ग्राम का शासक था, कुछ भूमि एक जैनमंदिर को दान की।

Ref Ep Ind app No 79 Guerinot—130

(१८) शक सं० ८०९ (887 A D) में पश्चिमी गगवशीय सत्यवाक्य कोंगुनी वर्मन (Konguni varman) की ओर से एक दान (gift) सर्वनन्दी को दिया गया।

Ref Guerinot D Epig Jain no 131

(१९) बिलियूर का शिलालेख (Biluir stone inscription) समय शक सवत् ८०९ (888 A D) है। सत्यवाक्य कोंगुनी वर्मन (पश्चिमी गगराचमल्ल प्रथम ?) ने बिलियूर के १२ छोटे गाँव (hamlets) शिवनन्दि सिद्धात भट्टारक के शिष्य सर्वनदी को पेन्नकडंग (Penneka danga) के 'सत्यवाक्य जिनमंदिर' के लिये दिये। Ref Ep Car I Coorg Inscriptions (ed 1914) no 2 Introd P 8

(२०) विक्रम सं० ९५१ (895 A D) में रामसेन के शिष्य भट्टारक देवसेन का जन्म हुआ।

Ref under 934 A D (P R IV Index)

(२१) शक सवत् ८१५ (ई० ८९२) निधियण्ण और चेदियण्ण नाम के दो वणिक् पुत्रों (sons of a merchant from Srimangal) ने तगडूरु (धर्मपुरी) में एक जैनमंदिर बनवाया। इन में से पहले को राजा से मूलपल्लि नाम का गाँव मिला, जिसे फिर उसने विनयसेन सिद्धात भट्टारक के शिष्य कनकसेन सिद्धात-भट्टारक को मंदिर की सुव्यवस्था (up keep) के लिये दिया। ये भट्टारक पोगरीयगण, सेनान्वय और मूलसंघ के थे।

Ref Ep Ind X 57 65

10TH CENTURY A. D.

(२२) शक सं० ८२४ (902 A D.) में आदिपम्प या हम्प का जन्म हुआ, जो दि० कर्णाटक कवि था।

Ref J. R. A (N. S.) XIV, 19.

(२३) श्रीविजय दण्डनायक, जिन्हें अरिविनगोज और अनुपम कवि भी कहते हैं, प्रायः ई० सन् ९१५ के लगभग हुए हैं। दानवुल पाडुस्तंभ शिलालेख में वे राजा इन्द्र (पानरेंदु) के, जो कि राष्ट्रकूट नित्यवर्ष इन्द्रतृतीय जाना गया है (identified with the Rastrakúta…) अधीन के (subordinate) बतलाये गये हैं। गंगमंत्री चामुण्डराय की तरह, जो पश्चिमीया गंगसम्राट् मारसिंह द्वितीय और राचमल्ल द्वितीय का सेवक और जैन-साहित्य तथा धर्म का बहुत बड़ा संरक्षक था। श्रीविजयशास्त्रविद्या के समान अस्त्र (युद्ध) विद्या में भी अद्वितीय था। साथ ही जैनधर्म का संरक्षक था और उसने अन्त में मोक्षप्राप्ति के लिये, एक पवित्र जैन के सदृश, संसार का त्याग किया।

Ref Ep Ind X, 149—50.

(२४) वि० सं० ९७३ (917 A D) में राष्ट्रकूटवंशी राजा विदग्ध हुआ। अपने धर्मगुरु वासुदेवसूरि (वलभद्र) के उपदेश से उसने हस्तिकुण्डिका (हाथुडी) में एक जैनमंदिर बनवाया। राजा ने अपने को सोने से तौला था जिसका दो तिहाई भाग 'जिन' को और शेष (⅓) जैनगुरु (वासुदेव सूरि) को दिया। उस ने मंदिर और गुरु को और भी दान वि० सं० ९७३ मे दिये थे। Ref Ep Ind X, 17—23

(२५) वि० सं० ९९६ (940 A D) में 'मम्मट' राष्ट्रकूट ने अपने पिता विदग्धराज के दिये हुए दानपत्र को फिर से हस्तिकुण्डिका जैनमंदिर के हक में नया किया (Renewed)

Ref. Ep Ind X, 20.

(२६) वि० सं० १००८ (944 A D) में शालास्थिति का प्रारंभ हुआ। अर्थात् श्वेतांबर साधुओं की मंदिरों मे रहने की प्रवृत्ति के स्थान में उपाश्रयों में रहने की धीरे धीरे प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। Approximate date of the great Swetambar awakening

Ref B R. 1883—4, P. 323.

(२७) शक संवत् ८६७ शुक्रवार के दिन (5th December, 945 A D) पूर्वीय चालुक्य अम्मा द्वितीय या विजयादित्य षष्ट का, जो कि चालुक्य भीम द्वितीय वेंगी के राजा का पुत्र और उत्तराधिकारी था, और जिसने ईस्वी सन् ९७० तक राज्य किया, दबार (coronation) हुआ। यह राजा जैनियो का संरक्षक था। महिला 'चामकाम्ब' के कहने पर (at the instance of), जो पट्टवर्धक घराने की थी, उस (राजा) ने एक गाँव

अर्हनन्दी को (अर्हनन्दी मन्त्राचन्द्र सिद्धान्त के शिष्य अय्यपोटि का शिष्य था), जो कि अड्डकलि गच्छ और वलहारि गण का था, सर्वलोकाश्रय जिन भवन के हितार्थ दान किया था (Kaluchumbarru grant) उसके फौजी जनरल दुर्गराज (कटकाधिपति विजयादित्य के पुत्र) ने Whose sword always seived only for the protection of the fortune of the chalukyas and whose renowned family served for the support of the excellent great country called Vengı धर्मपुरी के निकट कटकाभरण नाम का जिनालय बनाया और उसका अधिकार श्रीमन्दिरदेव (Srımandıra deva) को, जो कि 'दिवाकर' का (जो कि नन्दिगच्छ कोटिडुव (?) गण और यापनीय संघ के जिननन्दि का शिष्य था) शिष्य था, दिया। मलियापूडि का दानपत्र (grant) एक गाँव के दान का उल्लेख करता है जो अम्मा द्वितीय ने इस जिनमंदिर के वास्ते दिया था।

Ref D C 90 Ep Ind VII 179 Ibid IX 49—50

(२८) 949 A D War between the Rastrakuts and cholas Hostility between the rival religious Jainism and Hinduism in the Deccan leads to the introduction of much bitterness into the wars of this period

Ref Smith Early History of India (1914) P 429

(२९) विक्रम स० १०११ (२ अप्रैल दिन सोमवार में खजराहों (रियासत छतरपुर) का शिलालेख लिखा गया। (it records a number of gifts by Pahilla) इस लेख में पाहिल के द्वारा, who is held in honor by King Dhanga Chandella जिननाथ के मन्दिर के लिये (in favour of the temple of Jinanáth) दिये हुए अनेक दानों का उल्लेख है।

Ref Ep Ind I 135—6

(३०) वि० स० १०१३ (956 A D) में माधव के पुत्र महेन्द्रचन्द्र ने, जो समस्त ग्वालियर का राजा था, एक जैनमूर्ति सुहम्य Suhamya (जो ग्वालियर के निकट है) में अर्पण की।

Ref Jr Asiatic Soc. Beng XXXI P 399

(३१) विक्रम संवत् १०३४ (977 A. D)। सुहम्य (Suhamya) की जैनमूर्ति पर एक शिलालेख है जो वज्रदमन कच्छपघाट के समय का है।

Ref Jr Asia Soc. Beng XXXI P 393 401

(३२) शक संवत् ९०० में चामुण्डराज (मन्त्री पश्चिमी गंगराज राचमल्ल) ने अपना पुराण समाप्त किया। Ref Ind ant. XII 21 Inscrip at Sr Bel no 75 76 77 85 and pp 22 25 33, 34

(३३) शक सं० ८९९ (978 A D) में पेग्गूर का शिलालेख लिखा गया। इसमें रक्कस ने, जो कि गगवंशी राचमल्ल द्वितीय का छोटा भाई और वेड्डोरेगेरे (Beddoregare) का शासक (governor सूबादार) था, श्रवणबेलोल के अनन्तवीर्य को, जो कि पण्डित गुणसेन भट्टारक का शिष्य था, एक दान दिया।

Ref Ep Car I, Coorg Inscriptions (ed 1914) no 4. Rice, Mysore and Coorg from inscriptions, P 47

(३४) राष्ट्रकूटवंशी कृष्णराज तृतीय का पौत्र इन्द्रराज चतुर्थ, श्रवणबेलोल मे शक संवत् ९०४ (सोमवार के दिन २० मार्च) को मरा। Ref Inscrip at Sr Bel. no 57. p 53 Ind ant XXIII. p. 124, no. 64.

(३५) वि० सं० १०५३ (997 A D) में रविवार (२४ जनवरी) के दिन हस्तिकुंडिका का जैनमदिर (जिसे राष्ट्रकूटवंशी विदग्धराज ने बनाया था) बहाल किया गया या मरम्मत की गयी (restored)। वासुदेव सूरि के शिष्य शान्तिभद्र सूरि ने वहाँ एक ऋषभदेव की मूर्ति स्थापित की। इस घटना की स्मृति मे सूराचार्य ने एक प्रशस्ति रची।

Ref. Ep Ind. X, P. 17 f.

(३६) 1000—1200 A D Prevalence of Jainism as the chief form of morship among the highest classes in central India.

Ref, Imp. Gazet. Ind IX, p 353.

(३७) लघुसमतभद्र, जिसने अष्टसहस्री पर एक टीका लिखी है, ईस्वी सन १००० के लगभग की है। (श्वे०) अभयदेव सूरि का भी यही समय है।

Ref Vidyabhooshan Indian Logic pp 36—37. K J O. Tank's Dic. I, P I P R, V pp 216—19.

11TH CENTURY A D.

(३८) ईसवी सन् १००४ मे, राजेन्द्रचोल के आधिपत्य मे चोलों की विजयों द्वारा पश्चिमी गंगवंश के राज्य का पतन हुआ। इस राजकीय परिवर्तन से, जैनधर्म को मैसूर प्रांत में जो राजधर्म (s r) का स्थान प्राप्त था वह विरुद्धता मे परिणत हो गया (adversely affected)।

Ref. Rice, Mysore and Coorg from Inscriptions, pp. 48, 203.

(३९) वीरभद्र ने वि० सं० १०७८ मे 'आराधना-पताका' बना कर समाप्त की।

Ref I. G. 64.

(४०) मथुरा से प्राप्त हुई एक जैनमूर्ति पर वि० सं० १०८० का लेख है।

Ref, Ep. Ind. II; p. 211

(४१ बुद्धिसागर ने जो कि वधमान और जिनेश्वर द्वारा अनुगृहीत था (the favoured one of) 'शब्दलक्ष्य-लक्षण' नाम का एक व्याकरण वि० स० १०८० में बनाया, जब कि वह जवालीपुर (जालोर मारवाड़) में था।

Ref B R 1904—5 and 1905—6 p 25 77 Tank's Dic p 5

(४२) तिरुमलइ गिरि शिलालेख(समय 1024 A D) है। यह चोल राजा के सम्बन्ध में केसरी वर्मन अपर नाम (alias) राजेन्द्र चोल देव प्रथम के राज्य के १३वें वर्ष का लिखा हुआ लेख है। राजेन्द्र चोलदेव ई० सन् १०१२ में राज्यासन पर बैठे (और उसने तिरुमलइ गिरि के, जो कि उत्तर आर्काट जिले में पोलूर के निकट है, जैनमंदिर के दीपक और पूजा के लिये कुछ रुपये का दानपत्र लिखा) and records a gift of money for a lamp and for offerings to the Jain Temple on the hill of Tirumalai (near Polur in the north Arcot district) by Chamundappai the wife of the merchant Nannappaya of Malliyur in Karaivali a subdivision of Perumban appadi The temple was called Sri Kundavi-Jinalaya This name suggests that the shrine owed its foundation to kundvai the daughter of Parantak II elder sister of Rajaraja I (and consequently the pater nal aunt of Rajendra chola I) and wife of Vallava raiyar Vandya devar

Ref Ep Ind IX p 230—3

(४३) वि० सं० १०९२ में वर्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि (श्वे०) ने (बृह० गच्छ पट्टावली) लीलावती कथा आशापल्ली में बनाई।

Ref B R 1882—3 p 46

(४४) Saka 970 Balagamve inscription registering a Jain benefaction by Chavundaraya Kadamba faudatory of Banvasi under the Western Chalukya Somesvar I of Kalyan

(४५) ई० सन् १०५० के लगभग गुणमन ने धर्म के तौर पर नागकूप नाम का कुआँ गुल्दूर ग्राम के वास्ते खुदवाया।

Ref Ep Car loc cit no 42

(४६) वि० स० ११०९ में जीरापल्ली तीर्थ की नींव पड़ी (Jirapalli Tirth founded)

Ref B R. 1883—4 322

(४७) शक स० ९७६ (1054 A D) में होनवाड संस्कृत और कनड़ शिलालेख लिखा गया। इस शिलालेख में, जो पश्चिमी चालुक्य (सोमेश्वर प्रथम) त्रैलोक्यमल्ल के राज्यकाल से संबंध रखता है, उस दान का वर्णन है, जो रानी केतल देवी की प्रार्थना पर किया गया था। इस शिलालेख में मूलसंघ, सेनगण और पोगरि गच्छ का उल्लेख किया

गया है। ब्रह्मसेन, उस का शिष्य, आर्यसेन, उसका शिष्य महासेन और उसका शिष्य चाकिराज, जो कि केतल देवी का एक कर्मचारी (officer) था।

Ref Ind ant XIX, p XIX, p 272.

(४८) खजराहों की एक जैनमूर्ति पर वि० सं० १२१२ का लेख है। उसमें शिल्पकार का नाम कुमारसिंह दिया गया है।

Ref Cunningham archer Survey India XXI, page 68.

(४९) सं० ९८० (1058 A D) में मुल्लुर का शिलालेख लिखा गया। इसके द्वारा राजेन्द्र कोगाल्व ने उस वस्ति के लिये एक दान किया जो कि उसके पिता ने वनवाई थी। 'राजाधिराज' की माता, पोचब्बरसि ने गुणसेन को दान दिया। Vide 1064, A D.

Ref Ep. Car I, Coorg Inscrip (ed 1914), no 35.

(५०) शक स० ९८६ (1064 A D) मे मुल्लूर का शिलालेख लिखा गया, जिसमे गुणसेन की मृत्यु का उल्लेख है जो कि एक प्रधान नैयायिक और वैयाकरण थे। गुणसेन नंदिसंघ, द्रविलगण और अरुङ्गल आम्नाय के पुष्पसेन का शिष्य था।

Rep Ep Car. I, Coorg Inscriptions (ed 1914) no 34

(५१) अन्नीगेरि के जैनमंदिर जो कि मैसूर के अन्यान्य जैनमंदिरो के साथ राजेन्द्रदेव चोल के द्वारा जला दिये गये थे, जिनका एक स्थानीय शासक के द्वारा ई० सन १०७० के करीव जीर्णोद्धार किया गया (are restored)

Ref Fergusson History of Indian and Eastern architecture (1910 A D) Vol II, p 23

(५२) राजपूताना म्यूजियम अजमेर में एक खड़ी दिगंबर जैनमूर्ति पर वि० सं० ११३० (1074 A D) का लेख है, दूसरी पर ११३७।

Ref Prog Rep of arch Surv of India west cir. for 1915—(P 35)

(५३) गुडिगेरे का टूटा कन्नड जैनशिलालेख का समय शक ९९८ (1076 A D) है। इस मे आचार्य्य श्रीनंदी पण्डित के दानो का वर्णन है। चालुक्य-चक्रवर्त्ती विजयादित्य वल्लभ (i e. probably Vijayaditya west Chalukya) की छोटी वहन कुंकुम महादेवी ने पहले एक जैनमंदिर वनवाया था, ऐसा इस शिलालेख मे उल्लेख है। साथ ही भुवनैकमल्ल—शांतिनाथ देव का भी उल्लेख है, अर्थात् शांतिनाथ एक जैनमंदिर या विम्ब का जो पश्चिमी चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल के द्वारा वनाया गया अथवा स्थापित किया गया था।

Ref Ind ant XVIII, p 38.

(५४) विक्रमसिंह कच्छपघाट का शिलालेख का समय वि० सं० ११४५ है। इस मे उन दानों का वर्णन है जो कि दूबकुंड (Dubkunda) के नये वने हुए जैनमंदिर के लिये दिये गये।

Ref. Ep. Ind. II, 232. f,

भट्टाकलंक का समय

[ले० श्रीयुत प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, म० जैनदर्शन]

जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ३, किरण ४ में, उसके प्रयतम सम्पादक बाबू कामता प्रसाद जी का 'श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस लेख में लेखक महोदय ने अकलङ्कदेव के बारे में उपलब्ध सामग्री का अच्छा सङ्कलन किया है, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे स्थल हैं जो ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से स्खलित कहे जा सकते हैं, अतः उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जैन साहित्य में अकलङ्कदेव का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में धर्मकीर्ति का है। उन्होंने जैनन्याय का कितना और कैसा विकास किया तथा उसे कौन कौन सी अमूल्य निधियाँ भेंट कीं? यह बतलाने के लिये एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यहाँ तो मैं केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि यदि जैनन्याय-रूपी आकाश में अकलङ्क रूपी सूर्य्य का उदय न हुआ होता तो न मालूम जैनन्याय और उसके अनुयायियों की क्या दुर्गति हुई होती? किन्तु ऐसे महान् वाग्मी और प्रखर तार्किक की जीवन घटनाएं तथा सुनिश्चित समय जानने की सामग्री हमारे पास नहीं है। पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी के निर्मित कथा-कोशों में उनकी कथा मिलती है। उन कथाओं में अकलङ्क को मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के मन्त्री का पुत्र बतलाया है। और हिमशीतल राजा की सभा में उनका बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ कराके भी उल्लेख किया है। अन्तिम बात का समर्थन श्रवणबेल्गोल की मल्लिषेण प्रशस्ति से भी होता है और उसी प्रशस्ति में, राजा साहसतुङ्ग की सभा में अकलङ्क के जाने का भी उल्लेख मिलता है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण * ने राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्णराज प्रथम को साहसतुङ्ग या शुभतुङ्ग ठहराकर अकलङ्क को उनका समकालीन माना है और इसी मत को स्वीकार करते हुए श्रीयुत प्रेमीजी ने अकलङ्क का समय वि० सं० ८१० से ८३२ (ई० ७५३ से ७७५) तक बतलाया है ‡। किन्तु डाक्टर पाठक ने राष्ट्रकूट राजा साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग के समय में अकलङ्क का होना स्वीकार किया है। बा० कामताप्रसाद जी ने प्रेमीजी के उक्त मत का उल्लेख करके उसमें आपत्ति की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुङ्ग ठहरा

* हिस्ट्री ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक।

‡ जैनहितैषी, भाग ११, पृ० ४२८।

कर उसके राज्यकाल (वि० स० ८०१ मे ८१६ तक=ई० स० ७४४ से ७५९) में अकलङ्क को जीवित मानना ठीक बतलाया है तथा निष्कर्ष निकालते हुए अकलङ्कदेव का कार्य-काल संभवत वि० सं० ८०१ से ८३९ तक (ई०७४४ से ७८२) बतलाया है।

अपने मत के समर्थन मे लेखक ने उक्त हेतु के अतिरिक्त अन्य ६ हेतु और भी सङ्कलित किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

२ स्वर्गीय भण्डारकर महोदय ने लिखा है कि जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण (शा० ७०५=ई० ७८३) मे सिद्धसेन, अकलङ्क आदि का उल्लेख किया है। अतः उससे पहले अकलङ्कदेव विद्यमान थे।

३ हरिवंशपुराण मे आचार्य कुमारसेन का उल्लेख है और इन्हीं कुमारसेन का उल्लेख विद्यानन्द स्वामीने अपनी अष्टसहस्त्री—जो कि अकलङ्क की अष्टशती का ही भाष्य है—के अन्तमे किया है। अतः इससे भी हमारे निष्कर्ष का समर्थन होता है।

४ विद्वानों का कथन है कि अकलङ्कदेव ने बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है। धर्मकीर्ति का समय ईस्वी सातवी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जाता है। अत इसके बाद आठवी शताब्दी में अकलङ्कदेव का अस्तित्व मानना उचित है।

५ स्व० प्रो० पाठक ने प्रकट किया था कि कुमारिलभट्ट ने अपने 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ मे अकलङ्क देव के 'अष्टशती' नामक ग्रन्थ पर कुछ कटाक्ष किये है, तथा कुमारिल अकलङ्क के कुछ समय बाद तक जीवित रहा था। कुमारिल का समय वि० सं० ७५७ से ८१७ तक (ई० स० ७०० से ७६०) निश्चित है। अत एव अकलङ्क का समय भी यही हो सकता है।

६ अकलंकचरित नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कथन है कि शक सं० ७०० में अकलंकयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था। इससे सिद्ध है कि शक सं० ७०० (ई० ७७८) मे अकलंक विद्यमान थे।

७ प्रो० पाठक, डा० विद्याभूषण, प्रो० राईस आदि विद्वानों ने अकलंक को ईस्वी आठवी शताब्दी का विद्वान् निश्चित किया है।

आलोचना

सबसे पहले लेखक के प्रथम हेतु पर विचार न करके हम उसके सहायक हेतुओं पर विचार करेंगे, क्योंकि सहायक हेतुओं के बाधित होने पर प्रथम हेतु स्वयं ही निस्सार प्रतीत होने लगेगा।

२ अकलंक, जिनसेन के हरिवंशपुराण के पूर्ववर्ती हैं, इसमे तो किसी को विवाद नही

जान पड़ता। किन्तु, जैसा कि लेखक महोदय ने लिखा है, यद्यपि डा० भण्डारकर ने अपनी रिपोर्ट में हरिवंशपुराण में अकलङ्कदेव के स्मरण किये जाने का उल्लेख किया है, तथापि हमें उस ग्रन्थ में ऐसा कोई स्थल न मिल सका। बा० कामताप्रसाद जी ने ऐसे दो स्थल खोज निकाले हैं, वे स्थल हैं हरिवंश पुराण के पहले सर्ग का ३१वाँ और ३९वाँ श्लोक। लेखक का कहना है कि इन से प्रकरान्तर रूप में अकलंक का उल्लेख हुआ कहा जा सकता है। किन्तु यह लेखक का भ्रम है। असल में ३१वें श्लोक* में ग्रन्थकार ने 'देव' शब्द से अकलङ्कदेव का स्मरण नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध शाब्दिक देवनन्दि का—जिनका दूसरा नाम पूज्यपाद भी था—स्मरण किया है।

आदिपुराणकार† तथा वादिराज‡ ने भी—जिन्होंने अकलङ्कदेव का भी स्मरण किया है—इन्हें इसी संक्षिप्त नाम से स्मरण किया है। अतः यह 'देव' शब्द अकलङ्क का संक्षिप्त नाम नहीं है किन्तु देवनन्दि[1] का संक्षिप्त नाम है। ३९ वें श्लोक में श्रीवीरसेनाचार्य की कीर्ति को 'अकलङ्क' कहा गया है। किन्तु केवल 'अकलङ्क' विशेषण से अकलङ्कदेव जैसे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् का स्मरण किये जाने की कल्पना हृदय को स्पर्श नहीं करती। पर जब हरिवंश पुराणकार ने ऐसे विद्वानों का स्मरण किया है, जिन्होंने अपनी रचनाओं में अकलङ्क का न केवल स्मरण किया है किन्तु उनके राजवार्तिक से उद्धरण तक दिये हैं, तब उनके द्वारा अकलङ्क का स्मरण न किया जाना अचरज की बात अवश्य है। अस्तु, यदि हो सका तो इस सम्बन्ध में फिर कभी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

३ तीसरे हेतु से भी केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अकलङ्क हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए हैं। और इस में किसी को भी विवाद नहीं है, यह हम पहले ही लिख चुके हैं।

४ चौथे हेतु में किसी को विवाद नहीं है क्योंकि अकलङ्क के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने न केवल धर्मकीर्ति का खण्डन ही किया है किन्तु उसके ग्रन्थों से उद्धरण तक दिये हैं। उदाहरण के लिये—लघीयस्त्रय की 'स्वमतान्न विरुध्यतानाम्' आदि कारिका की स्वोपज्ञ विवृति में "सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना" आदि आता है। यह धर्मकीर्ति के प्रमाण

---

* इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापि(डि)व्याकरणेक्षिणः। देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम् ॥३१॥

† कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते। विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥
॥५२॥ प्रथम पर्व

‡ अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा। शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥
पार्श्वनाथचरित १—१८।

[1] देखो, जैन साहित्य संशोधक भाग १, अंक २ में प्रकाशित श्रीयुत प्रेमी जी का 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दि' शीर्षक लेख।

वार्तिक के तीसरे परिच्छेद की १२४ वीं कारिका के ही शब्द हैं। न्यायविनिश्चय की एक कारिका का पूर्वार्द्ध है—"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात्।" यह प्रमाणवार्तिक के "भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः ॥ १—९१ ॥" का ही उत्तर है। इसी तरह आप्त मीमांसा-कारिका ५३ की अष्टशती में 'न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्' आता है। यह प्रमाण-वार्तिक के प्रथम परिच्छेद की २७९ वीं कारिका का उत्तरार्द्ध है, तथा अष्ट-सहस्री पृष्ठ ८१ से अष्टशतीकार अकलङ्कदेव ने 'मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा' आदि लिख कर जो बौद्धों के निग्रह-स्थानों की आलोचना की है वह धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' का ही खण्डन किया है। अतः इसमें तो विवाद ही नहीं कि अकलङ्क ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया है। किन्तु इससे धर्मकीर्ति और अकलङ्क के बीच में एक शताब्दी का अन्तराल नहीं माना जा सकता, जैसा कि लेखक ने लिखा है। दो समकालीन ग्रन्थकार भी—यदि उनमें से एक वृद्ध हो और दूसरा युवा हो तो—एक दूसरे का खण्डन-मण्डन कर सकता है और इतिहास में इस तरह के अनेक दृष्टान्त मिलते भी हैं। अतः धर्मकीर्ति का खण्डन करनेके कारण अकलङ्क को उनके १०० वर्ष बाद का विद्वान् नहीं माना जा सकता।

५ डाक्टर के० बी० पाठक ने अपने कई लेखों में इस बात को सिद्ध किया है कि कुमारिल-भट्ट ने समन्तभद्र और अकलङ्क के कुछ मन्तव्यों पर आक्रमण किया है, अतः कुमारिल अकलंक के समकालीन होते हुए भी अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे। भण्डारकर-प्राच्य-विद्या-मन्दिर की पत्रिका जिल्द ११, पृ०१४९, में समन्तभद्र के समय पर उन्होंने एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने अकलंकदेव और उनके छिद्रान्वेषी कुमारिल के साहित्यिक व्यापारों को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखने की सलाह दी थी[1]। डा० कामताप्रसादजी ने भी अपने पक्ष के समर्थन में डा० पाठक की सलाह को अपनाया है और कुमारिल का सुनिश्चित समय—न मालूम किसके आधार पर—ई० स० ७०० से ७६० तक बतलाया है। प्रथम तो कुमारिल का यह सुनिश्चित समय ठीक नहीं है जैसा कि मैं बतलाऊंगा। और यदि इसे ठीक भी मान लिया जाये तो डाक्टर पाठक का यह मत कि कुमारिल अकलङ्क के बाद तक जीवित रहे हैं, लेखक के दिये गये अकलङ्क और कुमारिल के समय से ही बाधित हो जाता है। लेखक ने अकलंक का कार्यकाल ई० ७४४ से ७८२ तक लिखा है और कुमारिल का ई० ७०० से ७६० तक। इस से तो अकलंक का कुमारिल के २२ वर्ष बाद तक जीवित रहना सिद्ध होता है, जो लेखक के द्वारा स्वीकृत डाक्टर पाठक के मत से बिल्कुल विपरीत है।

भण्डारकर-प्राच्य-विद्या-मन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३ पृष्ठ १५७ पर मुद्रित

---

१ देखें, जैनजगत्, वर्ष ६, अङ्क १५, १६ में प्रकाशित 'समन्तभद्र का समय और डा० के० बी० पाठक' शीर्षक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का लेख।

'अकलंक का समय' शीर्षक अपने लेख में एक स्थल पर डाक्टर पाठक ने लिखा है कि अकलंक का समय इतना सुनिश्चित है कि उसकी वजह से अकलंक के छिद्रान्वेषक कुमारिल को सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता। इन शब्दों को पढ़ कर डाक्टर पाठक की इस असिद्ध से असिद्ध को सिद्ध करने की प्रणाली पर हमें कुछ अचरज अवश्य हुआ। अकलंक को साहसतुंग दन्तिदुर्ग का समकालीन ठहराना कितने सुदृढ़ स्तम्भों पर अवलम्बित है यह हम लिखा ही चुके हैं तथा आगे भी बतलायेंगे। उसके आधार पर कुमारिल को भी आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घसीट कर ले आना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अकलंक की तरह कुमारिल का समय निर्धारण करने में भी एक शताब्दी की भूल की गई है और इस भूल की वजह से डाक्टर पाठक से अन्य भी कई भूलें हो गई हैं, जैसे नालन्दा बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान बतलाना। शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में कुमारिल की बहुत सी कारिकाएँ उद्धृत की हैं, अतः जब कुमारिल को आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान कहा जाता है तो शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान् कहना ही पड़ेगा। किन्तु यह कल्पना इतिहास से बाधित है।

मुनि जिनविजयजी[1] ने अनेक प्रमाणों के आधार पर हरिभद्रसूरि का समय ई० सन् ७०० से ७७० तक स्थिर किया है, क्योंकि ई० सन् ७७८ में रचित 'कुवलयमाला' में उनको स्मरण किया गया है। हरिभद्रसूरि ने अपने शास्त्रवार्ता समुच्चय की स्वोपज्ञ-टीका में 'सूक्ष्मबुद्धिना शान्तरक्षितेन' लिखकर स्पष्टरूप से शान्तरक्षित का नाम निर्देश किया है और शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह ग्रन्थ में कुमारिल की अनेक कारिकाएँ उद्धृत की हैं, अतः कुमारिल को सातवीं शताब्दी का विद्वान मानना ही पड़ेगा। और जब डाक्टर पाठक के मतानुसार अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने आक्षेप किये हैं और कुमारिल उनसे कुछ समय बाद तक जीवित रहे हैं तो अकलंक को भी सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान् मानना ही होगा। यदि इन चारों विद्वानों की औसत आयु ६० वर्ष मानी जाय तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए उनका समय हमें इस प्रकार मानना होगा—अकलंक ई० ६२० से ६८० तक, कुमारिल ई० ६८० से ७०० तक, शान्तरक्षित[2] (क्योंकि इसने कुमारिल और उसके साक्षात् शिष्य उम्बेयक उर्फ भवभूति का उल्लेख किया है) ई० ७०० से ७६० तक और हरिभद्र ई० ७१० से ७८० तक।

६ अकलंकचरित के श्लोक का अर्थ करने में तो लेखक महोदय ने कमाल कर दिया

---

१ जैन साहित्य संशोधक, भाग १, अंक १, में 'हरिभद्र सूरि का समय निर्णय' शीर्षक लेख।

२ देखो, तत्त्व संग्रह की अंग्रेजी प्रस्तावना।

है। आप के द्वारा उद्धृत श्लोक* में 'शक' शब्द का कहीं नाम भी नहीं है, प्रत्युत 'विक्रमार्क' स्पष्ट लिखा है, फिर भी आपने उसका अर्थ शक सं० कर दिया है और इस तरह अकलंक के बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के समय वि० सं० ७०० (ई० ६४३) के स्थान में शक सं० ७०० (ई० ७७८) लिख गये हैं, जो उनकी अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन सिद्ध करने की धुन में जानबूझ कर की गई भूल का परिणाम जान पड़ता है। अतः लेखक-द्वारा प्रदत्त इस प्रमाण से भी हमारे ही मत की पुष्टि होती है न कि लेखक के मत की।

'अकलंक का समय' शीर्षक डाक्टर पाठक के लेख का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं और यह भी लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक को अपने निर्धारित समय की सुनिश्चितता पर इतना दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने उसके आधार पर कुमारिल को आठवीं और शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान् मान लिया। उनके इस विश्वास का आधार था, प्रभाचन्द्र का प्रसिद्ध श्लोक "बोधःकोऽप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याकलंकं पदम्" आदि, जिसका अर्थ यह किया गया कि प्रभाचन्द्र ने अकलंक के चरणों के समीप बैठ कर ज्ञान प्राप्त किया था, और

---

* विक्रमार्कशताब्दीयगतसप्तप्रमाजुषि । कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

पं० जुगलकिशोर जी ने भी अपने 'समंतभद्र' (पृष्ठ १२५) में यह श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु उसमें 'विक्रमार्कशकाब्दीय' पाठ है जो शुद्ध प्रतीत होता है। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी अपने लेख के फुटनोट में इस बात का निर्देश किया है और पं० जुगल किशोर जी के अर्थ वि० सं० ७०० पर आपत्ति करते हुए लिखा है कि दक्षिण भारत के कई लेखों में शकाब्द का उल्लेख 'विक्रमार्क' शब्द से हुआ है। हुआ होगा, किन्तु यहाँ पर तो ऐतिहासिक घटना-क्रम से विक्रम सम्वत् की ही पुष्टि होती है। तथा इसका समर्थन लेखक की उस आशंका से भी होता है जो उन्होंने शक सं० ७०० के बारे में प्रकट की है। वे लिखते हैं "किन्तु इस अवस्था में कुमारिल का अकलंक के बाद तक जीवित रहना बाधित होता है। हमारे ख्याल से या तो कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी है, अथवा अकलंक देव को कुमारिल के आक्षेप को देख कर उसके निरसन करने का अवसर नहीं मिला था।" हेतु नं० ५ में डाक्टर पाठक के मत का उल्लेख और कुमारिल का सुनिश्चित समय वि० सं० ८१७ तक लिखने के बाद भी निष्कर्ष निकालते हुए अकलंक के समय की अन्तिम अवधि ८३१ वि० सं० निर्णीत की गई और उस समय लेखक महोदय को अपनी उस भूल का ध्यान न आया जिसे हम हेतु नं० ५ को हेत्वाभास सिद्ध करते समय दरसा आये हैं। हर्ष है कि अकलंक-चरित के 'विक्रमार्कशक' का अर्थ शकसम्वत् करते हुए उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गई और उससे उन्हें कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी मालूम दी। किन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि कुमारिल का काल-निर्णय कुछ नहीं बल्कि सर्वथा गड़बड़ है और इस गड़बड़ी का मूल कारण अकलंक के काल-निर्णय की गड़बड़ी है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य थे। अपने उक्त लेख में श्रीकण्ठ शास्त्री* के मत की आलोचना करते हुए स्व० डा० पाठक ने बड़े जोर के साथ लिखा है कि यदि अकलंक का समय ६८५ ई० माना जाय तो 'प्राप्याकलङ्क पदम्' के अनुसार प्रभाचन्द्र—जिनका स्मरण आदिपुराण (ई० ८३८) में किया गया† और जो अमोघवर्ष प्रथम के समय में हुए हैं—अकलंक के चरणों में नहीं पहुंच सकते। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी डाक्टर पाठक के इस मत का अनुसरण किया है और प्रभाचन्द्र को अकलंक का समकालीन बतला कर प्रमाणरूप से फुटनोट में उक्त श्लोक उद्धृत कर दिया है। किन्तु पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने डाक्टर पाठक के इस भ्रम का निराकरण बड़ी अच्छी तरह कर चुके हैं। यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। प्रभाचन्द्र तो क्या, अकलंक के प्रकरणों के ख्यातनामा व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द भी, जिनका स्मरण प्रभाचन्द्र ने किया है, अकलंक के समकालीन नहीं जान पड़ते, क्योंकि अनन्तवीर्य अकलंक के प्रकरणों का अर्थ करने में अपने को असमर्थ बतलाते हैं तथा दोनों ने धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त आदि बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है जो आठवीं शताब्दी के विद्वान हैं और जिनका अकलंक के प्रकरणों पर कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता। अतः प्रभाचन्द्र के उक्त श्लोक के आधार पर प्रभाचन्द्र को अकलंक का साक्षात् शिष्य बतलाना और इसीलिये अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्य से खींच कर आठवीं शताब्दी के मध्य में ला रखना सरासर भूल है।

बाबू कामताप्रसाद जी के द्वारा अपने मत के समर्थन में दिये गये हेतुओं को हेत्वाभास सिद्ध करने के बाद हम कुछ ऐसे और भी हेतु उपस्थित करेंगे जो उनके मत का निरसन और हमारे मत का समर्थन करते हैं। अनन्तवीर्य‡ के समय के सम्बन्ध में डा० पाठक के मत की आलोचना करते हुए एक फुटनोट में प्रो० ए० एन० उपाध्याय ने अकलंक के समय के संबंध में भी उनके मत की आलोचना की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुंग कहना केवल अनुमान मात्र बतलाया है। तथा यह भी लिखा है कि धवला टीका में—जो जगत्तुंग के राज्य में (७८४ से ८०८) समाप्त हुई थी। अनेक स्थलों पर वीरसेन ने अकलंक के राजवार्तिक से लम्बे लम्बे चुनिन्दा वाक्य उद्धृत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जी ने|| धवला टीका का समाप्ति

* भाण्डारकर प्राच्य विद्या मंदिर पूना की पत्रिका, जिल्द १२, पृष्ठ २४३ २४४ में 'विद्यानन्द और शंकर मत' शीर्षक से श्रीकण्ठ शास्त्री का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उस में लेखक ने अकलंक का समय ६८५ ई० लिखा है, उसी का खण्डन करने के लिये स्व० डा० पाठक ने 'अकलंक का समय' नामक निबन्ध लिखा था।

† अनेकांत, जिल्द १, पृष्ठ १३०।

‡ जैनदर्शन, वर्ष ४, अङ्क ३, पृष्ठ ३८३ से। || समन्तभद्र, पृष्ठ १७

काल शक सं० ७३८ (ई० ८१६) लिखा है। यद्यपि अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन मान लेने पर भी वीरसेन के द्वारा धवला टीका में उनके राजवार्तिक में उद्धरण दिये जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि अकलंक के अंत और धवला की समाप्ति में ३४ वर्ष का अन्तर है, फिर भी धवल सरीखे सिद्धांतग्रन्थ में वीरसेन जैसे सिद्धांत-पारगामी के द्वारा आगम-प्रमाण के रूप में राजवार्तिक से वाक्य उद्धृत करना प्रमाणित करता है कि वीरसेन के समय में राजवार्तिक ने काफी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और उसमें काफी समय लगा होगा, अतः अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन नहीं माना जा सकता।

सिद्धसेन गणी ने अपनी तत्वार्थ-भाष्य की टीका[1] में अकलंक के सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख किया है। इनका समय अभीतक निर्णीत नहीं हो सका है। 'जैन साहित्यनो इतिहास[2]' में परम्परा के आधार पर इन्हें देवर्द्धिगणि (५वीं शताब्दी के लगभग) का समकालीन बतलाया गया है, किन्तु इतने प्राचीन तो यह कभी हो ही नहीं सकते। इन्होंने अपनी तत्वार्थ-भाष्यवृत्ति[3] में धर्मकीर्त्ति का नाम निर्देश किया है और दूसरी तरफ नवमी शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क[4] ने गन्धहस्ती नाम से इनका उल्लेख किया है, अतः वे सातवीं और नवमी शताब्दी के मध्य में हुए हैं इतना सुनिश्चित है। पं० सुखलालजी[5] का कहना है कि हरिभद्र और सिद्धसेन गणि ने परस्पर में एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया अतः ऐसी संभावना जान पड़ती है कि ये दोनों या तो समकालीन हैं या इनके बीच में बहुत ही थोड़ा अन्तर होना चाहिये। हरिभद्र का सुनिश्चित समय हम ऊपर लिख आये हैं अतः सिद्धसेन गणि को आठवीं शताब्दी का विद्वान् मानने में कोई बाधा नहीं है। अब यदि अकलङ्क का समय भी आठवीं शताब्दी माना जाता है तो उनकी सुप्रसिद्ध कृति का सिद्धसेन गणि-द्वारा उल्लेख किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता अतः अकलङ्क को आठवीं शताब्दी का विद्वान् न मान कर सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना चाहिये।

जिनदास[6] गणि महत्तर ने निशीथसूत्र पर एक चूर्णि रची है। इनकी एक चूर्णि नन्दिसूत्र पर भी है। इस चूर्णि की प्राचीन विश्वसनीय प्रति में इसका रचना-काल शक सं० ५९८ (ई० ६७६) लिखा है। निशीथ-चूर्णि में जिनदास ने सिद्धसेन के 'सन्मति'

---

१ एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्त्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेण। पृ० ३७।

२ ले० मोहनलाल देसाई, पृ० १४३।

३ पृ० ३९७।

४ आचाराङ्ग-टीका, पृष्ठ १ तथा ८२।

५ 'तत्वार्थसूत्र के व्याख्याकार और व्याख्याएं' शीर्षक लेख, अनेकांत वर्ष १, पृ० ५८०।

६ 'सन्मति-प्रकरण' (गुजराती) की प्रस्तावना, पृष्ठ ३५-३६।

के साथ साथ अकलंक के सिद्धि विनिश्चय ग्रन्थ का भी उल्लेख[1] किया है और उसे दर्शन और ज्ञान के प्रभावक शास्त्रों में गिनाया है। इस उल्लेख से अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्यभाग का विद्वान् मानने में कोई शंका अवशेष नहीं रह जाता।

तथा अकलंक के ग्रन्थों पर से भी हमारे उक्त मत का समर्थन होता है। विद्वान पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि धर्मकीर्ति ने अपने पूर्वज दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को स्थान दिया था। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण केवल 'कल्पनापोढ' रक्खा था किंतु धर्मकीर्ति ने कल्पनापोढ और अभ्रान्त रक्खा। अकलंक ने अपने राजवार्तिक में दिङ्नाग के लक्षण का खण्डन किया है और उस प्रकरण में जो दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, उनमें से एक दिङ्नाग के 'प्रमाण समुच्चय' की है और दूसरी[2] वसुबन्धु के अभिधर्मकोश की। इसके अतिरिक्त उसी प्रकरण में कल्पना का लक्षण करते हुए उसके पांच भेद किये हैं। रशियन प्रो० चिरविस्टकी[3] (stcherbatsky) लिखते हैं कि दिङ्नाग ने कल्पना के पांच भेद किये थे—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक की रचना अपने प्रारम्भिक जीवन में की थी उस समय तक या तो धर्मकीर्ति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाण वार्तिक, प्रमाण विनिश्चय आदि की रचना नहीं की थी या वे प्रकाश में नहीं आये थे। किंतु उस समय भी अकलंक धर्मकीर्ति से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने राजवार्तिक पृष्ठ १९ पर बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा' आदि एक कारिका उद्धृत की है। कहा जाता है कि धर्मकीर्ति के 'सन्तानान्तरसिद्धि' नामक प्रकरण की यह पहली कारिका है। इतिहासज्ञों ने धर्मकीर्ति का कार्यकाल ६३५ ई० से ६५० ई० निर्णीत

१ दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसम्मदिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।

२ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्। असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते॥ ॥

३ सवितर्कविचारा हि पंच विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः॥३॥

अभिधर्मकोश में 'विकल्पादविकल्पकाः' पाठ है।

४ बुद्धिष्ट लॉजिक, २ य भाग, पृष्ठ २७२ का फुटनोट नं० १।

न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणकार के उल्लेख से भी यह पता चलता है कि दिङ्नाग ने कल्पना के पाँच भेद किये थे। यथा—"संप्रति दिङ्नागस्य मतमनुवर्णयति। दृश्यन्ते कल्पनास्वरूपं प्रवृत्ति काप केवमिति। यदृच्छाशब्देषु डित्थ इति नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। सेयं कल्पना।"

किया है। और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनत्सांग* के द्वारा अपने गुरु-भाई धर्मकीर्ति का उल्लेख न किये जाने से यह भी स्पष्ट है कि उस समय वह विद्यार्थी थे। ह्यूनत्सांग ई० ६३५ तक नालन्दा मे रहा और उसी वर्ष आचार्य धर्मपाल ने नालंदा विद्यापीठ के अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण किया। अत. धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक जैसी उत्कृष्ट रचनाएँ ई० ६३५ के बाद ही रची गई जान पड़ती हैं। यही वजह है कि अकलंक के न्यायविनिश्चय मे जो धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण कराता है—हम धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष के लक्षण का खण्डन पाते है। यदि अकलंक को आठवी शताब्दी का विद्वान् माना जाय तो उक्त समस्या पर हृदयस्पर्शी प्रकाश नही डाला जा सकता। अतः अकलंक को दंतिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानने की पुरानी मान्यता को छोड़ कर उन्हे सातवी शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान् मानना चाहिये।

निष्कर्ष

स्व० डा० विद्याभूषण, प्रेमी जी, तथा स्व० डा० पाठक-कथोपवर्णित शुभतुंग या साहस-तुंग नाम के आधार पर राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्णराज प्रथम को शुभतुंग और दंतिदुर्ग को साहसतुंग ठहरा कर अकलंक को आठवी शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान् मानते हैं। बाबू कामता प्रसाद जी डा० पाठक के दंतिदुर्ग को साहसतुंग ठहराने की बात के पक्ष में हैं। किंतु हमारी दृष्टि से दोनो मतो में कोई विशेष अन्तर नही है क्योंकि दोनों ही मत अकलंक को आठवी शताब्दी का विद्वान् ठहराते है। डाक्टर विद्याभूषण ने तो कृष्णराज को शुभतुंग मानने के सिवा अपने पक्ष के समर्थन मे कोई हेतु नही दिया। डाक्टर पाठक का जोर दो ही हेतुओं पर है—एक कुमारिल का अकलंक के बाद तक जीवित रहना और दूसरा प्रभाचन्द्र का अकलंक का साक्षात् शिष्य होना। प्रथम हेतु के अनुसार डा० पाठक की यह मान्यता कि अकलंक पर कुमारिल ने आक्रमण किया है—अकलंक को सातवी शताब्दी का विद्वान् मानने का ही समर्थन करती है यह हम ऊपर भले प्रकार सिद्ध कर आये हैं। दूसरा हेतु भी विद्वानों के द्वारा खण्डित किया जा चुका है।

बाबू कामता प्रसाद जी ने अपने पक्ष के समर्थन मे जिन हेतुओं का सङ्कलन किया था उनकी निस्सारता ऊपर सिद्ध कर दी गई है और कई नये प्रमाण देकर यह साबित कर दिया है कि अकलंक सातवीं शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान् थे। अत डाक्टर विद्याभूषण और पाठक की दुहाई देना बेकार है। अकलंक को सातवी शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान्

* हमारे सहयोगी पं० महेन्द्रकुमार जी से उनके मित्र मि० तारकस ने—जो तिब्बतीय भाषा जानते हैं तथा उस पर से कई बौद्ध ग्रंथों का अवलोकन कर चुके हैं—यह बात कही थी।

मानने के समर्थक हेतुओं का संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार है —

१—आठवीं शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान् सिद्धसेनगणि अकलंक के सिद्धिविनिश्चय ग्रंथ का उल्लेख करते हैं।

२—सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान् जिनदास महत्तर अपनी निशीथचूर्णि में सिद्धि विनिश्चय का उल्लेख प्रभावक ग्रन्थों में करते हैं।

३—अकलंक-चरित में लिखा है कि वि० सं० ७०० (६४३ ई०) में अकलंकयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ।

४—डाक्टर पाठक का कथन है कि कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे, और कुमारिल का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

५—अकलंक ने अपने ग्रन्थों में धर्मकीर्ति का खण्डन किया है, किंतु राजवार्तिक में उन्होंने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष की परिभाषा का उल्लेख न करके दिङ्नाग-कृत परिभाषा का खण्डन किया है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि राजवार्तिक की रचना उन्होंने अपने प्रारंभिक काल में की है और उस समय धर्मकीर्ति के ये ग्रन्थ—जिनका अकलंक ने अपने अन्य प्रकरणों में खंडन किया है—प्रकाश में नहीं आये थे। धर्मकीर्ति का कार्यकाल ६३५ से ६५० तक निर्णीत किया गया है अतः उस समय अकलङ्क को युवा होना चाहिये।

एक प्राचीन गुटका

(सं०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

श्री दि० जैन बड़े मन्दिर मैनपुरी के शास्त्र-भाण्डार को देखने का सौभाग्य हमें कुछ वर्षों पहले प्राप्त हुआ था। उसके कतिपय ग्रन्थरत्नों का परिचय हमने पहले 'वीर' द्वारा पाठकों को कराया था। उनमें महाकवि पुष्पदन्त-कृत यशोधर-चरित्र (अपभ्रंश अपूर्ण) कल्पसूत्र सचित्र (श्वे०) आदि ग्रन्थ दर्शनीय हैं। इन्हीं में एक गुटका भी उल्लेखनीय है। यह करीब ३०० वर्ष का लिखा हुआ है जैसे कि उसकी निम्नलिखित प्रशस्ति में प्रकट है:—

"अथ सम्वत्सरे श्रीनृप-विक्रमादित्य-राजे। संवत् १६८० जेष्ट मासे शुक्ल पक्षे परवणी नवमी भोम दिने श्रीनूरदीं जहांगीरपादिसाहिराज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंगे माथुरान्वे पुष्करगणे भट्टारक श्रीगुणचन्द्रदेवान्। तत्पट्टे भट्टारक श्रीसकलचन्द्रः। तत्पट्टे मंडलाचा' माहेंद्रसेण तत्सिप पंडित भगवतीदासु। तेन इद संचिका-मध्ये लिपकृताः॥ लिपापित बीनीद्रासु शुभमस्तु।'

इसमें पहले ही श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत 'षट्पाहुड' टीका-सहित लिखी गई हैं। उपरान्त 'परमात्मप्रकाश' लिखकर 'योगसार' के दोहे लिखे गये हैं, जिनमें आदि-अन्त के ये हैं:—

"णिम्मल झाण परिट्ठिया, कम्म-कलंक डहेवि। अप्पा लद्धउ जेण परु, ते परमप्प नवेवि॥ १
संसारहं भयभीयएण, जोगचन्द मुणिएण। अप्पासंबोहण कयह, दोहा कव्वमिसेण॥ इति॥"

इसके बाद देवसेन-कृत 'तत्वसार' लिखा गया है, जिसकी प्रारम्भिक और अन्तिम गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

"झाणग्गि-दड्ढकम्मे णिम्मल सुविसुद्ध लद्ध-सब्भावे।
णमि ऊण परमसिद्धे, सुतत्वसारं पवोच्छामि॥
सो ऊण तच्चसारं, रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं॥ ७४॥"

फिर द्रव्य-संग्रह लिख कर 'सामायिक समस्त भक्ति तीन-सहित' लिखा है। शायद यह बम्बई के मुनि अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमाला-द्वारा प्रकाशित सामायिक ग्रन्थ ही है। उपरान्त 'द्वादसी गाथायें' ३८ दी है। आदि-अन्त यथावत् समझिये:—

"दूदंति पलालहरं, माणुसजम्मस्स पाणियं दिन्नं।
जीवा जे हिणकाया, णाऊण ण रक्खिया जेहि॥ १॥

विपरिंदिय पचेंदिय, समणा अमणाय पज्जपज्जत्ता ।
थावर-थावर-सुहुमा, मणुयचकारण रंसिखज्जा ॥ २ ॥
छत्तीसगाहाए, जो पढइ सुणइ भत्तिभारेण ।
सो णर जाणइ वधो, मोनखो पुणुणागमउ होवे ॥ ३७ ॥
जो जाणइ अरहन्तो, दव्वस्स गुणत्थपज्जयत्तेहि ।
सो जाणदि अप्पाणा, मोहोग्गुभुजाइ तस्स लय ॥ ३८ ॥'

आगे भट्टारक सकलकीर्ति विरचित "सद्भाषितावली" लिखकर 'ढडाणा रास' लिखा गया है, जिसके नमूने इस प्रकार हैं —

"तू स्याणा तू स्याणा जियडे तू स्याणा रे ।
वसणणाणचरणअप्पणु, गुण क्या तजि हुवा अयाणा वे ॥ १ ॥
मोहमिथ्यात पडिउ नित, पचसि चहुगति माँहि यमाणा व ।
नरकगतिहि दुपछेदणु, भेदणु ताडण ताप सहाणा वे ॥ २ ॥
धम्मसुकल धरि ध्यानु अनूपम, लहि निनु केवल नाणा व ।
जपति दास भगवती पावहु, सासउ सुहुनिवाणा वे ॥ ४ ॥

इन्हीं कवि भगवतीदास जी की और कई रचनायें इसी गुटके मे आगे दी हुई हैं । यह कवि और भैया भगवती दासजी एक हैं, यह नहीं कहा जा सकता और जो प्रशस्ति इस गुटके के लिपि-सबन्ध में दी हुई है, उसमे इनका समय वि० स० १६८० और निवास-स्थान सहजादिपुर नगर मालूम होता है । सतरहवा शताब्दी की हिन्दी पद्यरचना मे इनकी कवितायें भी उल्लिखित की जा सकती हैं । इनके नमूने यथाक्रम आगे देखते चलिये । "वनजारे" शीर्षक रचना भी इन्हीं की रची हुई है, जिसके नमूने ये हैं —

"चतुर वनजारे हो नमणु करहु जिणराइ, सारद-पद सिर ध्याइ, प मेरे नाइक हो ॥१॥
चतुर वनजारे हो कायानगर मझारि, चेतनु वनजारा रहइ मेरे नाइक हो ।
सुमति-कुमति दो नारि, तिहि समनेहु अधिकु गहइ मेरे नाइक हो ॥ २ ॥
चतुर वनजारे हो तेरइ त्रिगौनी तिय दोइ, इक गोरी इक सांवली मेरे नाइक हो ।
तेरी गोरड काज सुलोइ, सावल दइ लडवावनी मेर नाइक हो ॥ ३ ॥
चतुर वनजारिन हो गुरु मुनि माहिंदसैन वरसानि तिह सुपुषाइए मेरी सुन्दरि हो ।
दूरि किया तिनि मनु तासु चरनि निवलाइए मेर नाइक हो ।
चतुर वनजारे हो सिहरदादिनगार मझारि । दास भगवती यो कहइ मेर नाइक हो ।
जे गावहि नर-नारि सिवपुरि सासउसुष लहइ मेरे नाइक हो ॥ ३१ ॥"

इसके बाद इसमें 'तत्वार्थ-सूत्र' जी लिपिबद्ध किये हुए हैं। और फिर भगवतीदास जी की रचनायें मिलती हैं। सबसे पहले 'आदित्यव्रत रासा' लिखा हुआ है। नमूने यों देखियेः—

"आदि जिनेसुर नमसकरी, सारद पणमें स्यों।
रविव्रत-कथा विचारि प्रगड़, लहु रासु करेसउं॥ १॥
बानारसि पड़पालु नियो मतिसागर साहो।
धरि गुण सुन्दरि सातपुत लुह किया विवाहो॥ २॥
गुरु मुणिचन्द पसाइ किया यहु रासु विचारी।
दास भगौती भणइ सुणहु भवियण मिण धारि॥ १६॥
पढ़हि गुणहि सुणि सद्दहइ, रविव्रत चितु लावंइ।
राजरिद्धि नर अमर-सुखु सिवरमणी पावहिं॥ २०॥"

दूसरी रचना 'पखवाडे का रास' है और उसके नमूने ये हैं'—

"वीर जिनेसुर नमनु करिवि। सारद सिर न्याऊं।
पन्द्रह तिथि जगि वरत-सारु तिस रासा गाऊं॥ १॥
जंबूदीवहं भरहखेति. चंपापुरि जाणी।
धाड़ी वहु त्रिपु अङ्गदेसि पद्मावति राणी॥ २॥
गुरु मुणिमाहिदसेण-चरण नमि रासा कीया।
दास भगवती अगरवालि जिणपद मनु दीया॥ २१॥
पढ़हि गुणहि सुणि मण धरहि, तिन्ह पाउ पणासइ।
रिउ सोउ दुहु कष्टु हरइ धरि सम्पइ वासइ॥ २२॥"

तीसरी रचना "दसलाखणी रासा" है और वह यह है.—

"तणरुह नाभिनरिंद नमौ, सारद पणमेसउं।
दहलक्खण जगिधम्मसारु तिंह रासु भणेसउं॥ १॥
जंबूदीवह भरहखेति, मागध छै देसो।
रायग्रही पुरियहु सुजाणु सेणिउजु नरेसो॥ २॥
अष्टकरम हणि मोषि गये, तजि चहुगति दुक्खो।
नंतचतुष्टय सोलहि अविनसुर सुक्खो।
अवर कोइ नरुनारि इहो, व्रतु मणवच-काइरसी।
राजरिद्धि सुहुसिध लहि भवसायरु तरसी॥ ३३॥
गुरु मुणिमाहिदसेणु नामु मुणिचन्दु भणीजइ।

'तिहुं पसाइ इहु रासु किया, दुहु-दुगति निवारणु ।
पढहि गुणहि सुणि सद्दहि, तिन्ह सिवसुहु करणु ॥ ३४ ॥"

चौथी रचना "ग्यारह अनुप्रेक्षा" है, इसके नमूने भी यों देखिये —

"अवधू जाणाप होधु किछ देविय नाहि,
किउ रुचि मानि पहो, विहुडइ जो विणमाहि ।
विणमाहि जाहि विन्नास-मन्दिर, मधुसुत चित अति घणा ।
जल रेह देह-सनेहु तिय दामिनि दमक जिउ जोवनां ॥
जिस हति जात न धार लागइ, तुलचला चलि पेपिप ।
अवधू परिन कहां जिअ सिउ-धून किछ अगि देपिप ॥ १ ॥
भवि भवि भाविप हो रत्नत्रय-गुण-झानु ।
अप्पा झाइप हो धम्म सुकल धरि ध्यानु ॥
मनि ध्यानु जिनवर होउ भवि । भवि गुरु निगंथ्यरु पाईप ।
सन्यास-मरना अप्प-सरणा सील सिउ लिव लाइप ॥
छडहु सदा मनि-राग-दोसहु, देउ निणवरु झाइप ।
कवि कहि भगवती दास मित्र सुपु पेहु भवि २ भाविप ॥ १२ ॥'

पाचवीं रचना "पीचडी रासा" है और वह इस प्रकार प्रारम्भ होता है —

'पच परम गुरु वन्दिवि सारद नमणु करि ।
पिचडी रासु पयासमिनि सुणहु भाउ धरि ॥ १ ॥
निरा धिणु जपु नवि सोहइत पुन विन भणिता ।
तंव विणु मुणि नवि सोहइ, धऊजु अम्भ विनां ॥ २ ॥
समकित विणु धरतु न सोहइ, संजमु धम्म विनां ।
दया विणु धम्म न सोहइ, उद्दिमु कर्म विनां ॥ ३ ॥
सकलचन्द भट्टारक उत्तम विमांधरो ।
तासु पट्टि वयमडिय मुणि मुणिचन्द्रवरो ॥
तासु पसाए रासा पिचडी उत्तियऊ ।
होइ भूरि सुहु-सागह भणइ भगौतियऊ ॥ ४० ॥'

छठी रचना "अनन्तचतुदसी चौपाई" है और वह इस प्रकार है —

"प्रथम नमा जिणवर आदीसु । चडमाण जिण न्याऊ सीसु ॥
पुणु पुपुयणाविवि सारद माइ । गोयम गणहर लागौं पाइ ॥ १ ॥

जवूदीउप सिद्धउ लोइ. भरहपित्तु दाहिणि दिसि होइ।
मगध देसु देसनि-परधानु, गांनभमडिल सोभइ भानु ॥ २ ॥
पुव्व पुराणि भणि मुणि आसि, ते सुणि भणिश भगवती दास।
पढ़हि गुणहि जे भवियण लोइ, मुकति-सिरी-फलु पावहि सोइ ॥ ५० ॥"

सातवी रचना "सुगधदसमी-कथा" है और उसके नमूने इस प्रकार हैं —

"नेमि जिनिद नमो धरि भाउ. सुमति-सुगति-दाता सिवराउ।
पुणु पणमो सारद सिर न्याइ. रिसि-गुरु-गनहर लागों पांइ ॥
तासु पसाए यह चौपही, दास भगौती लहु-मति कही।
पढ़हि गुणहि जे भवियण लोय. मुकतिसिरी-फल पावहि सोय ॥
जे नरु सुणहि मणिधरि सुधभाउ, भव-भव भूरि पणासइ पाउ ॥ ५१ ॥"

८ वी और ९ वी रचनायें श्रीआदिनाथ और शांतिनाथ जी की विनती हैं। उनके नमूने भी देखिये: —

"आदि जिनेसुर देव, नाभिराय-कुल-कमलरवे।
तुव त्रिभुवन-कृत सेव. चूरिय कर्म्म-कलंक सवे ॥
त्रेसठि पइडि विपाइ, केवल णाणु उपायतने।
धर्म्माधर्म दिखाइ, वोहिय जीव अवोहघने ॥ १ ॥

× × ×

गुरु मुंणि मांहिंदसेणु, रयणत्तय-गुणि-मंडियो।
तजि मणितणि अधरेणु, कामु-कसाय विहंडियो ॥
पदपंकज नमि तासु, वीनतड़ी जिणनाह करी।
भणत भगवतीदासु, णिसुणहु भवियण भाउ धरी ॥ ९ ॥"

× × ×

"परम निरंजणु सोइ, सांति जिणेसरु णाणधरो।
अवर न त्रिभुवनि कोइ, तिह सम देउ अणंगहरो ॥
लोहु-कोहु-मदु छडि मोहु-मया तिणा परहरिया।
पंचमहव्वय-मडि, उत्तमपिमतणि मणि धरिया ॥ १ ॥"

× × ×

"गुरु मुणि माहिंदसैणु, तासु चरणजुग वन्दि करी।
पाइउ जिण-मगु-रेणु, दास भगौती भाउ धरी ॥
वीनतड़ी यहु लाये, पढ़हिं गुणहिं जे भवियजणा।
धामि तिनह धणु होइ, पुणु सिव-सासउ-सुक्खघर ॥ १० ॥

ब्रह्म अगनि परजालि कइ धन-काम जराउ।
कइ वनिता-संगि धरि रहौ, कइ तप-भसम चढाउ॥"

१० वीं रचना "समाधी रास" है, जिसके आदि अन्त के छन्द यों हैं —

"जिण चौवीसों नमणु करसउ वीनइ सारद-पय पणमेस्यो।
साधु समाधी-रासु भणेसउ दुक्ख-कलेस जल्जलि दसउ॥

× × ×

गुरु मुणिचन्द-चरण चितु लावइ, दास भगवती रासा गावइ।
अवर भविगु जो पढइ पढावइ, सो मणवंछिय संपइ पावइ॥"

११ वीं रचना "आदितवार कथा" है, उसकी भी बानगी देख लीजिये—

"सयल जिण हृयय पणविवि सरसय नमणु करे।
रविवउ-चरिय पयासमि नितु गहु भाउ धरे॥ १॥
जम्बूदीउ सिद्धउ, भरहखित्तु सुजहा।
वाणारसि नयरि पुणु निउ पइपालु तहाँ॥२॥

× × ×

सकलचंदु भट्टारगु सम्मग णाण धरो।
तासु पट्टियमडिय मुणि मुणिचन्दवरो।
तासु चरण नमि भविय हुहुमय उत्तियऊ।
होउ कुसलु चोसंगह भणइ भगौतियऊ॥ ४५॥'

१२ वी रचना "चुनड़ी मुकति-रमणी" की है, जिसका नमूना भी देखिये —

"आदि जिनेसरु वंदिए, मनवयकायति सुद्धि हो।
सारद-पय पणमउ सदा, उपजइ निरमल बुद्धि हो॥
मेरी मुकति-रमणि की चूनडी, तुम जिनवर देहु रंगाइ हो।
बिन यह सिय पिय-सुन्दरी, अरुन अनूपम लाल हो॥
मेरा भवितारण चूनड़ी॥ १॥
समकित-वस्त्र बिसाहिले, ज्ञानसलिल संगि भेइ हो।
मल पचीस उतारिये, दिढ मनु साजि देइ हो॥
मेरा मुकति-रमणी की चूनडा तुम जिनवर देहु रंगाइ हो।
मेरी भवजल-तारण चूनड़ी॥ २॥

× × ×

मुकति-रमणि रंगि सो रमइ, वसु-गुण-मंडित सोइ हो ।
नतचतुष्टय सुपु घणां, जम्मणु मरणु न होइ हो ॥ मेरी मुकति० ॥

गुरु मुनि माहिंदसेनु हुइ, पदपंकज नमि ताशु हो ।
सहरि सुहावइ बूडिग, भनत भगौतीदासु हो ॥ मेरी मुकति० ॥

राजवलि जहांगीर कह फिरिय जगति तिस आण हो ।
ससिरसवसुविदा धरहु संवतु गुणहु सुजान हो ॥"

१३ वी रचना "योगी रासा" है और वह इस प्रकार है:—

"परम निरंजनु, भवदुह-भंजनु जिनु-जोगी जग-नाथो ।
आदि जगद् गुरु मुकति-रमणि वरु ताहि नवाऊं माथो ॥ १ ॥

बोध दियायर गणहर हुपते नमि पणमौं पाया ।
साहु-सिरोमणि लोहाचारजु जिनि जिणमग्गो बताया ॥ २ ॥

पेषहु हो तुम पेषहु भाई, जोगी जगमहिं सोई ।
घट-घट-अन्तरि वसइ चिदानन्दु अलपु न लखइ कोई ॥ ३ ॥

भव-वन भूलि रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुधि विसराई ।
परम प्रतिंदिय सिवसुपु तजि करि विषयनि रहिउ लुभाई ॥ ४ ॥"

× × ×

"नंतचतुष्टय-गुण-गण राजहिं तिन्ह की हउं बलिहारी ।
मनि धरि ध्यानु जपहु शिवनाइक, जिउं उतरहु भवपारी ॥ ३७ ॥

जोगीरासौ सुणहु भविकजण, जिउं तूटहिं कर्मपासो ।
गुरुमुणि मांहिदसेन-चरण नमि भनत भगवतीदासो ॥ ३८ ॥"

१४ वी रचना "अनथमी" शीर्षक इस प्रकार है ।

"नवे पिणु सामिय वीर जिणिंद, तिलोय पयासण-बोह-दिणिंद ।
पयत्थंह भापणणेय पयार, गणिंद नमामि भवोवहितार ॥ १ ॥

सुरिंद नरिंद समुच्चिय जाणि, सयपणमामि जिणेसर-वाणि,
पयासमि गुणु अणथमिय सुलोइ । सुणेहु तु सावगणिचल होइ ॥ २ ॥

× × ×

मुणिंदु जनिंदु महिंदजिसेनु जिणि उरणि दुर्द्धर दुर्जय मैनु ।
नमौ पद-पंकज मणवय ताशु, सुपडिउ भणइ भगवतीदासु ॥ २६ ॥"

१५ वीं रचना 'मनकरहा रासु' है और उसके नमूने इस प्रकार हैं —

"मन करहा जगवनिमहिं भ्रम्या, चरत विषइ-वन राइ रे।
चहुंगति चहुंदिसि सो फिरइ भउतरवर-फल पाइ रे॥ मन० ॥ १ ॥
अरे लख चौरासी महि रूल्या करहलु पचपयारी रे।
सुरनर-पसु जोणिहिं फिरिऊ, नरय गया बहुवार रे॥ मन० ॥ २ ॥
अरे नित्य इतरजु निगोयहीं, सात-सात लष माही रे।
पसु-दस जम्मण मरण तहा, समइ समइ सुल्हाइ रे॥ मन० ॥ ३ ॥

× × ×

अरे जब जियडइ सिवपुर लह्यो, जम्मणु मरणु न होइ रे।
नतचतुष्टय सुपु घणा, वसुगुण मंडित सोई रे॥ मन० ॥ २४ ॥
श्री गुरु मुनि माहिंदसैनु हइ, पद-पङ्कज नमि तासो रे।
सहरि भलइ सहिजादपुरि, भनत भगोतो दासो रे॥ मन० ॥ २५ ॥"

१६ वीं रचना 'वीरजिणिन्द गीत' शीर्षक है, जिसके आदि-अन्त के छन्द इस प्रकार हैं —

"वीर जिणिंद-समोसरणि जी विपुलाचल गिरि थानि।
मेघकुमारि वेरागि भोजी, सुनि गुरु गनहरवानि॥
मनोहर धरमि महाव्रत भारु, यहु संसारो असारु री माइ,
धरमि महाव्रतभारु ॥१॥

नवजोवनि तू बालिकाजी, अति दुर्द्धर जाऊ जोग।
बसु रमणी गयगामिणी जी, बहुविह भुगतहु भोगु॥
—कुमरनी संजमु दुरद्धरभारु ॥ २ ॥

गुरु मुनि माहिंदसैनि नमि जी, भनत भगवती दासु।
जे नर नारी गावहिं जी, ततो उहि कमपासु॥
परम गुरु धनि संयम भारु ॥२२॥"

१७ वीं रचना "रोहिणीव्रत रासु" है और उसका आदि अन्त इस प्रकार है —

"पणविवि वीर चरण गुरुगण गणहरु, अरु सारद् सिर न्याऊ।
रोहणिव्रत विधिरासु अनूपम, मणवचि रुचिकर गाऊ। भविक जण॥
तासु पसाइ कियो मइ लहुमति, रोहणिव्रतविधि रासो।
अगरवालु अगाल पुर पहणि भनत भगोतीदासो ॥ ४२ ॥"

१८ वीं रचना 'ढमाल राजमती-नेमीसुर' का है और उसके नमूने ये हैं :—

"पंच परम गुरु वंदिवि करि सारद जयकारु ।
गुरुपद-पंकज पणमो, सुमति-सुगति-दातारु ॥
सोरठि देसु भला सब देसनिमहं परधानु ।
महिमंडलि इउं राजति जिउं नभ-मंडलु भानु ॥ १ ॥
तहि नवरी द्वारावति वन-उपवन-आराम ।
इन्द्रपुरी सुविसेषति हेमरत्त नमइ धाम ॥
कंवल-अछादिति वावरि, सीतर वारि रसाल ।
कूप घने जलपूरित पदमसहित सरताल ॥ २ ॥
× × ×
कोटि जतन कोइ करिहो जीवनु सो नित नाहिं ।
तनु-धनु-जीवनु विनसइ कीरति रहइ जगमांहि ॥ ६० ॥
मुनि माहेन्द्रसेन गुरु तिह जुगचरन पसाए ।
भापत दास भगवती, थानि कपिस्थलि आइ ॥ ६१ ॥
नर-नारी जे गावहि सुणहि, चतुर;दे कानु ।
भोगवि सुरनर सुहफल पावहि सिवपुर थानु ॥ ६२ ॥"

१९ वीं रचना 'सज्ञानी ढमाल' है और वह इस प्रकार लिखा गया है:—

"यहु सज्ञानी जीउ जणि अवाणु हुवा हो ।
धुव दीनो विसराइ रान्यौ तन अधु वाहो ॥
ऐकु तजि विसुप रैनं, निसि-दिन ऐकु किया हो ।
ऐक विना जगमांहि, बहु दुष ऐकि दियो हो ॥ १ ॥
× × ×
जगमहि जीवनु सुपनां, रन-मनमथु परहरिये ।
लोहु-कोहु-मद-माया, तजि भवसायरु तरिये ॥
मुणि माहेन्द्रसेणि इंह निसि प्रणामा तासो ।
थानि कपिस्थलि नीकइ भनति भगौती दासो ॥ २ ॥"

इस तरह ये रचनाये कवि भगवतीदास जी अग्रवाल की है। इनमे आपने जो अपने बारेमे उल्लेख किया है उससे प्रकट है कि देश-विदेश मे विहार करते धर्मसाधनमें लीन थे। आप सहजादिपुर के निवासी थे और संकिसा तथा कपिस्थल मे भी आकर रहे थे। अन्तिम दोनो ग्राम जिला फरुखाबाद के संकिसा और कैथिया नामक गॉव है। सहजादिपुर भी वही

कहीं होगा। इन रचनाओंमे हिन्दी साहित्य की प्रगति और हिन्दी के उत्पत्ति क्रम पर प्रकाश पड़ता है। ये रचनायें अपभ्रंश भाषा और १८ वीं १९ वीं शताब्दी के बीच की लडी हैं। इनसे स्पष्ट है कि किस प्रकार अपभ्रंश से पलटते पलटते हिन्दी की आविर्भूति हुई। सचमुच जैन साहित्यभाषा और इतिहास सम्बन्धी नवीन प्रकाश उपस्थित करने से अमूल्य प्रतीत होता है। आगे इस गुटके मे 'सोलहकारणव्रत रास' इस प्रकार दिया हुआ है —

"वीर जिणेसर वमास करी गोयम पणमेसउ।
सोलहकारण-व्रत-सार तहि रासु करेसउ॥
जम्बूदीवह भारतखेत मगध छइ देस।
राजगृह छइ नगर हेमप्रभ राजधनेस॥१॥
× × ×
एक चित्तु जो व्रत करै नर अथवा नारी।
तीर्थंकर-पाद सो लहइ जो समकित धारी॥
सकलकीरति मुनि रासु कियउ ए सोलहकारण।
पढहिं गुणहिं जे सरस लहि तिह सिवसुह कारण॥"

इसके बाद 'जीवसुलाक्षण' लिखा हुआ है, जो इस प्रकार है —

"जीव सुलखणा हो, जिणवर भासिउ धम।
परिग्रहा पाहुणा हो विहाडइ सुरधम्मु-जेम॥
विहडतु सुर धणु जेम परिगहु, कहा तिम सिउ रचइ।
नित ब्रह्मलोक विचारि छायडइ दुन्ड कम्मह वचइ॥
पिय पुत्त-बन्धुरसयलु अथवू रूप रमण दरमा।
संवेग सुरति सभालि थिरमति, सुणउ जीव सुलखणा॥
× × ×
हंसा दुल्भी हो, मुकति-सरोवर तीरि,।
इन्द्रिय-वाहिया हो पीवत विषयहनीर॥
अति विषयनीर पियास लागी, विरह व्यापति आकुल्यो।
घारह अनुप्रेक्षा सुरति छाडिय, धम भूलो बावलो॥
अब होउ पतउ कहउ ततउ, सुभभद्रयसहं नमणु।
सन्यास मरणउ अग्य-सरणउ परम रयणनउ गुणु॥"

उपरान्त पेंत्री और यन्त्र देकर गुटका समाप्त किया गया है। इस तरह इस गुटके का परिचय है। इति ३० सं० ४ ६-२३

जैनज्योतिष और वैद्यक-ग्रन्थ

अनुपूर्त्ति

(ले०—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

भास्कर के गत अङ्क में "जैनज्योतिष और वैद्यकग्रन्थ" शीर्षक मेरा लेख छपा है, उसमे श्वेताम्बर-वैद्यक-ग्रन्थ कोई प्रकाशित नहीं हुआ लिखा गया था, पर अभी हर्षकीर्ति-कृत योग-चितामणि ग्रंथ गुजराती अनुवाद-सहित प्रकाशित देखने में आया है एवं पं० भगवान दास जी (जयपुर) से कई एतद्विषयक अन्य जैनग्रंथों का पता लगा है, अतः नीचे उनकी सूची दी जाती है :—

ज्योतिष-स्वप्न सामुद्रिक-ग्रन्थ

१	भुवनदीपक टीका (रत्नदीपक)	... खरतर रत्नधीर-कृत सं० १८०६ ।
२	तिथिसारणी	... पार्श्वचंद्रगच्छीय वाघ जी मुनि १७८३ ।
३	प्रश्नव्याकरण (जयप्राभृत)	
४	गार्ग्य संहिता	... गर्गमुनि (मूल प्रति अपूर्ण, मद्रास ओरियण्टल लायब्रेरी)
५	हस्तकाण्ड	... पार्श्वचंद्र
६	शकुनावली	सिद्धसेन (बड़ौदा)
७	स्वप्नचिन्तामणि	... दुर्लभराज (हमारे संग्रह में भी है)
८	स्वप्नप्रदीप	... वर्द्धमान सूरि (हीरालाल हंसराज-द्वारा मुद्रित)
९	शकुनरत्नावली	... ,, (बड़ौदा)
१०	सामुद्रिक-लक्षण	... लक्ष्मीविजय ,,
११	सामुद्रिक	... अजयराज ,,
१२	,,	... रामविजय ,,
१३	रमलशास्त्र	... भोजसागर ,,
१४	रमलसार	... विजयदान सूरि ,,
१५	सामुद्रिकभाषा	... खर० रामचंद्र सं० १७२२ मेहरा में हिन्दी में रचित (बीकानेर भा०)
१६	ज्योतिः-प्रकाश	

गणित

१ ज्योतिष-सारोद्धार चौ० — आनंदमुनि १७३१
२ लीलावती चौ० — खर० लाभवर्द्धन १७३६

जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीकाएँ

१ महादेवी दीपिका — धनराज
२ जातक दीपिका — खर० हर्षरत्न स० १७६५
३ जातकपद्धति — जिनेश्वरसूरि (जैन ज्ञान मंदिर, बड़ौदा)
४ विवाह पटल अर्थ — खर० विद्याहेम स० १८३७

दि० ज्योतिष ग्रन्थ

१ आयसद्भाव प्रकरण — मल्लिषेण
२ अर्घकाड — दुर्गदेव मुनि
३ रिट्ठसमुच्चय — दुर्गदेव स० १०८९
४ जिनसंहिता — एकसंधि भट्टारक
५ गणितसार सटिप्पण — महावीराचार्य

अनुपलब्ध ज्योतिष-ग्रन्थ

१ कालक संहिता — कालकाचार्य
२ भद्रबाहु संहिता प्रा० — भद्रबाहु
३ चातुर्मासिक कलक ४ तिथिकुलक ५ मेघमाला—विजयहीर सूरि

श्वेतांबर वैद्यक-ग्रन्थ

१ वैद्यकसार-संग्रह — हर्षकीर्ति
२ वैद्यमनोत्सव — अचल नयनसुख
३ कोकशास्त्र चौ० — नरबुदाचार्य
४ रसामृतश्री — माणिक्यदेव

दि० वैद्यक

१ हितोपदेश (गु० अनुवाद सहित मुद्रित)

जैनेतर वैद्यक ग्रन्थ पर जैन टीका

१ योगशतक टीका, मूल वररुचि टीका समंतभद्र (जैनेतर ?)

नोट—गत अंक में प्रकाशित लेख में पृष्ठ ११४ लाईन तीसरी से ६ ग्रन्थों का नाम 'जैनेतर ग्रंथों पर जैन टीकाएं' शीर्षक के नीचे आना चाहिये। सन्निपात कलिका टवा कर्त्ता हेमनिधान स० १७३३ और कविप्रमोद सं० १७६६ होना चाहिये।

शास्त्री जी के सूचित ग्रन्थों में १ ज्योतिषसार २ योगचिंतामणि श्वे० ग्रंथ हैं। अष्टांग हृदय का कर्त्ता जैनेतर है।

विविध विषय

"नैषधीय चरित" में जैन धर्म का उल्लेख

[१]

संस्कृत साहित्य में 'नैषधीयचरित' का भी अपना खास स्थान है। उसकी गणना कालिदास, भट्टि, भारवि और माघ के महाकाव्यों से भी उच्च कोटि में की जाती है। कहते हैं कि यह श्रीहर्ष की रचना है और उसका समय ईस्वी बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।* इस महाकाव्य में नल-दमयन्ती की कथा सरस रीति से वर्णित है। कवि ने जैनधर्म-विषयक उल्लेख देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके समय में जैनधर्म का प्राबल्य अधिक था। "नैषधीयचरित" के प्रथम सर्ग में इन्होंने लिखा है :—

"चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयैव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन्भूरितुरंगमानपि ॥ ७१ ॥"

अर्थात्—"जिनेन्द्र भगवान के वचनों में श्रद्धा न रखनेवाले सिन्धुदेश के रहनेवाले जैन लोग विहारस्थल में बहुत से जैनों को वलयाकार बिठाते हैं अर्थात् मध्य में मुनीश्वर बैठते हैं और उनके चारों ओर जैनी बैठते हैं। सो जिस तरह वे वलयाकार बिठाते हैं उसी तरह नल के सैन्यलोक भी अपने घोड़ों को वलायाकार घुमाते हैं।"

इस उल्लेख से दो बातें स्पष्ट हैं (१) जैनों के उपदेश की प्राचीन रीति तब भी प्रचलित थी (२) और तब सिन्धुदेश में जैनधर्म का अच्छा प्रचार था। सिन्धुदेश के इतिहास 'चचनामा' में सातवीं शताब्दी ई० में श्रमणों को सिन्धुदेश का राज्याधिकारी लिखा है।† उसमें यह भी लिखा है कि जब मुहम्मद क़ासिम ने सिन्धुदेश पर आक्रमण किया तो श्रमणों ने उससे सन्धि करनी चाही। उन्होंने कहा कि हमारा धर्म शांतिमय है—उसमें हिंसा करना, लड़ना और खून बहाना मना है। उन्होंने यह भी कहा कि हमारे शास्त्रों में यह पहले ही ज्योतिष के आधार पर कह दिया गया है कि अब हिंदुस्तान में (म्लेच्छों) मुसलमानों का राज्य होगा।‡ सिंधु देश के इन श्रमणों के इस कथन से उनका जैनी होना संभव है, क्योंकि उपरांत जैनियों ने अहिंसा के स्वरूप को ऐसे ही विकृत रूप समझे बैठे मिल जाते हैं। जैन ग्रंथों में यह भी घोषित किया गया है कि पंचमकाल में भारत में म्लेच्छों का राज्य होगा। उधर ११वीं-१२वीं शताब्दियों में वहाँ जैनधर्म का प्राबल्य मिलता ही है। परंतु इतिहास-

---

* *Keith*, "Classical Sanskrit Literature" (Heritage of India Series) pp 58-59

†. *Elliot*, History of India (London 1867), p. 147.

‡. Ibid, pp 158-161.

लेखक इन श्रमण लोगों को बौद्ध प्रकट करते हैं। अत एव यह आवश्यक है कि तत्कालीन साहित्य 'चचनामा' आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय और देखा जाय कि उनमें श्रमण शब्द किन लोगों के लिये व्यवहृत हुआ है। 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' आदि जैन ग्रथों से भी सिंधुदेश में जैनधर्म का प्राबल्य स्पष्ट है।

उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त "नैषधीयचरित' के सर्ग ९ श्लोक ७१ और सर्ग १२ श्लोकों ३६ में भी जैनधर्म का सामान्य उल्लेख है।

> 'प्रशमितु समदुपातर निनम्, श्रिया जयन्त जगतीश्वर जिनम्।
> गिरः प्रतस्तार पुरारदेवता, दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता॥'
>
> (नैषध स० १२, श्लो० ८७)

नैषध के इस श्लोक में जैनधर्म का स्पष्ट उल्लेख है।

—का० प्र०

"जैन एन्टीक्वेरी" के लेख

(सितम्बर १९३७)

[२]

१ प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने जैनधर्म में योग का स्थान क्या है? यह बताया है। इस लेख का सार हिंदी भाषा में 'रायचन्द्र ग्रथमाला', बम्बई' में प्रकाशित 'परमात्म प्रकाश' की भूमिका में दिया गया है।

२ डॉ० सुकुमार रञ्जन दास, एम०ए०, पी०एच०डी० ने जैनज्योतिष पर लिखते हुए बताया है कि वह ज्योतिष वेदाग के समान है। जैनज्योतिष में युग पाच वर्षों का माना गया है और उसका प्रारभ अभिजित नक्षत्र से होता है। इस युग में ६० सौर्यमास, ६१ ऋतुमास, ६२ चान्द्रमास, ६७ नक्षत्रमास होते हैं। एक युग में चन्द्र की अभिजित नक्षत्र से ६७ बार भेंट होती है और सूर्य का समागम सिर्फ पाँच दफा होता है। जैनज्योतिष में महीनों के नाम निम्न प्रकार है —

प्रचलित नाम	जैनग्रथ	प्रचलित नाम	जैन नाम
१—श्रावण	अभिनदु	७—माघ	शिशिर
२—भाद्रपद	सुप्रतिष्ठ	८—फाल्गुण	हैमवान्

प्रचलित नाम	जैनग्रंथ	प्रचलित नाम	जैन ग्रंथ
३—अश्वयुज	विजय	९—चैत्र	वसन्त
४—कार्तिक	प्रीतिवर्द्धन	१०—वैसाख	कुसुमसंभव
५—मार्गशीर्ष	श्रेयान्	११—ज्येष्ठ	निदाघ
६—पौष्य	शिव	१२—आषाढ़	वनविरोधी

संवत्सर चार प्रकार के हैं (१) नक्षत्र-संवत्सर, ३२७ + ५१/६७ दिनः (२) युग-संवत्सर पाँच वर्ष; (३) प्रमाण-संवत्सर, (४) शनि-संवत्सर। तिथियाँ दिन और रात की अलग हैं।

ऋतुयें पाँच हैं—(१) वर्षा (२) शिशिर (३) हेम (४) वसन्त और (५) गरमी। ऋतुओं का प्रारंभ आषाढ़ मास से होता है। युगसंवत्सर का प्रारंभ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से होता है। कौटिल्य के समय मे वर्ष का प्रारंभ आषाढ के अंत मे होता था।

३ "जैन क्रोनोलोजी" शीर्षक लेख मे जैन संघ की पौराणिक समयानुवर्ती घटनायें अङ्कित है।

४ प्रो० शेषगिरि राव ने जैनों के धार्मिक आदर्श पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वह आदर्श अर्हत् पद को प्राप्त करना है; जिसे आप वैदिक आदर्श 'ब्रह्मसिद्धि' और बौद्धों के आदर्श "निर्वाण-सिद्धि" के अनुकूल समझते हैं। आप की मान्यता है कि जब इन सम्प्रदायों को वेद-बाह्य कहा जाता है तब उनके इस मौलिक सादृश्य को नजर अन्दाज कर दिया जाता है। इस समय इन प्राचीन धर्मों का अध्ययन समन्वय-दृष्टि से करना आवश्यक है। वेदो मे होम शब्द पशुओ के होमने के लिये प्रयुक्त हुआ है—उसके माने आत्मक्षेत्र मे कुछ और ही हो जाते है। जैनस्तोत्र 'अहमादिभक्ति' मे उसे अहंकार को नाश करनेवाला कहा है। इस स्तोत्र का अंतिम वाक्य 'ब्रह्म विदन्ति परम् ये' हमें औपनिषदिक उक्ति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' की याद दिलाता है। जैनस्तोत्र 'आचार्यभक्ति' मे मुक्ति-सौख्य का उल्लेख है। म० बुद्ध का धर्मान्वेषण इसी मुक्ति-सौख्य के लिये था और उन्होंने उसे 'निर्वाण' कहा। कई जैनस्तोत्रों के उद्धरणो से यह बात सिद्ध है। अन्त मे प्रो० साहब लिखते हैं कि प्राचीन जैनधर्म वीरतापूर्ण योगमार्ग को मोक्षसुख पाने के लिये आवश्यक ठहराता है। क्या भरतखंड के वैदिक सनातनी देखेंगे कि जिस 'संयमयोग' का विधान जैनस्तोत्र 'वीरस्तुति' मे है, ठीक वही शिक्षा 'भगवद्गीता' के प्रारंभिक छै अध्यायो में है?

५ जर्मनी के प्रो० हेल्मुथ फान ग्लासेनप्प ने तांत्रिक बौद्धमतानुयायियों के "आयामञ्जु-श्री—मूलकल्प" नामक ग्रंथ के दूसरे परिव्रत में भ० ऋषभदेव का उल्लेख हुआ बताया है। उस मण्डल में लिखा है कि :—

"कपिल मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ-तीर्थङ्कर ऋषभ निर्ग्रन्थरूपी ।" एक मण्डल की भाग्यरचना मे जिन महापुरुषों ने भाग लिया था उनका वर्णन करते हुए बौद्ध ऋषभदेव जैसे महापुरुष को भुला ही कैसे सकते थे ? उक्त ग्रंथ का चीनी भाषा मे अनुवाद सन् ९८०-१००० ई० मे हुआ था। ग्यारहवीं शताब्दी मे वह तिब्बत की भाषा मे अनुवादित किया गया था।

५ जेकोस्लोवेकिया के प्रोफेसर ओट्टो स्टीन ने स्वर्गीय डा० विन्टरनीज का परिचय दिया है। विन्टरनीज का जन्म २३ दिसम्बर १८६३ को आस्ट्रिया के होर्न नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने प्रोफेसर बुल्हर के निकट जैनधर्म की शिक्षा पाई थी। "जैनसाहित्य" का अच्छा परिचय आपने अपने "भारतीय साहित्य के इतिहास" मे दिया है। खेद है कि तारीख ९ जनवरी, १९३७ को आप का स्वर्गवास हो गया।

—कामता प्रसाद

तिलोयपरगणत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये
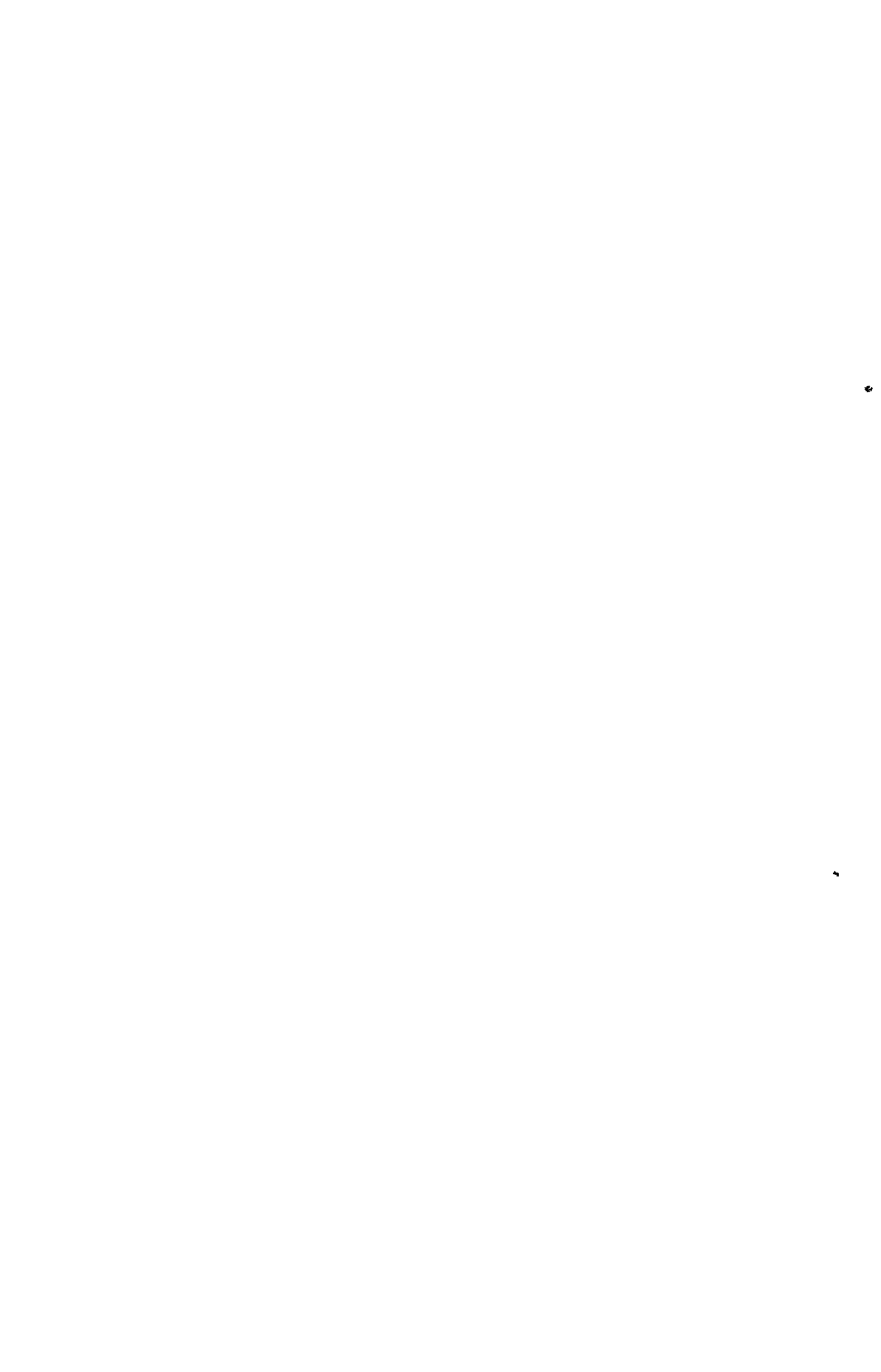
छट्ठमपुढवीए पंचसत्तभागूण छरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा सोलसजोयणसहस्स-बाहल्ला वाणउदिसहस्साहिय पचवाह ल्क्खाणमेगूणपचासभागबाहल्ल जगपदर होदि ॥३१०॥

= ५९२०००
४९

सत्तमपुढवीए छमत्तमभागूणसत्तरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा अट्ठजोयणसहस्स-बाहल्ला चउदालसहस्साहिय तिराण ल्क्खाणमेगूणपचासभागबाहल्ल जगपदरं होदि ॥३११॥

३४४०००
४९

अट्ठमपुढवीए सत्तरज्जुआयदा एक्करज्जुरुंदा अट्ठजोयणबाहल्ला सत्तमभागाहियेयजोयण बाहल्लं जगपदर होदि ॥३१२॥[1]

८
७

एदाणि सव्वमेलिदे एत्तिय होदि ।

=४३६४०५६
४९

एदहिं दोहिं खेत्ताण विंदफल समेलिय सयल्लोयमि भजणिदे[2] अवसेस सुद्धायासपमाण होदि तस्स ठवणा

केवलणाणतिणत्त चोत्तीसादिसयभूदिसपण्ण ।
णाभेयजिण तिहुवणणमसणिज्ज णमस्सामि ॥ [३१३] ॥

एवमाइरियपरम्परागयतिलोयपण्णत्तीए सामएणजगसरूवणिरूपणपएणत्ती
णाम पढमो महाधियारो समत्तो ॥१॥

1 Confusion of Nos in all the Mss 2 भवणोदे (?)

अजियजिणं जियमयणं दुरितहरं आजवं जवानीदं ।
पणमिय णिरुवमाणं णारयलोयं णिरूवेमो ॥१॥
णिव्वइणिवासखिदिपरमाणं[1] आउदयओहिपरिमाणं ।
गुणठाणादीणं[2] चयसखाउप्पज्जमाणजीवाणं ॥२॥
जम्मणमरणाणंतरकालपमाणादि एक्कसमयम्मि ।
उप्पज्जणमरणाण य परिमाणं तह य आगमणं ॥३॥
णिरयगदिआउबंधणपरिणामा तह य जम्मभूमीओ ।
णाणादुक्खसरूवं दंसणगहणं सहेदुजोणीओ ॥४॥
एवं पण्णरसविहा अहियारा वण्णिदा समासेण ।
तित्थयरवयणणिग्गयणारयपण्णत्तिणामाए ॥५॥
लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा ।
तेरसरज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसनाली ॥६॥
ऊणपमाणं दंडा कोडितियं एक्कवीसलक्खाणं ।
बासट्ठि च सहस्सा दुसया इगिदाल दुतिभाया ॥७॥

३ २ १ ६ २ २ ४ १ २
३

अथवा

उववादमारणंतियपरिणदतसलोयपूरणेण गदो ।
केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो[3] होदि तसनाली ॥८॥
खरपंकाप्पबहुला भागा रयणप्पहा य पुढवीणं ।
बहलत्तण सहस्सा सोल चउसीदि सीदी य ॥९॥

१६००० | ८४००० | ८००००

खरभागो णादव्वो सोलसभेदेहि संजुदो णियमा ।
चित्तादीओ खिदिओ तेसिं चित्ता बहुवियप्पा[1] ॥१०॥
णाणाविहवण्णाओ महीउ तह सिलातलाओववादा ।
वालुवसक्करसीसयरुप्पसुवण्णाणा[5] वइरं च ॥११॥
अयदंबतउरसासयमणिसिलाहिंगुलाणि हरिदालं ।
अंजणपवालगोमज्जगाणि रुजगकलंभपदराणि ॥१२॥
तह अंबवालुकाओ पलिहं जलकंतसूरकंताणि ।
चंदप्पहवेरुलियगेरुवचंदस्सलोहिदंकाणि ॥१३॥

1 परिमाणं (?), 2 A गुणट्ठाणाठाणादीणं; 3 AB सव; 4 B बहू; 5 सुवण्णाणि (?) ।

घवय[1]वगमोभसारगपहुदीणि‍[ ]विविहरयणाणि ।
जा[2] होंति त्ति पत्तेण चित्तेत्ति य ,वणिणदो पसो ॥१४॥
पवाव बहल्ल पऊसहस्स हवंति जोयणया ।
तीए हेट्ठा कमसो चोद्दस रयणा[ ]य खिदमही ॥१५॥
तरगामा वेरुलिय लोहिययक [3]असारगल्ल च ।
गोमज्जय पवालं जोदिरस[4] अजण णाम ॥१६॥
अजणमूलं अक फलिह चदण च वच्चगय[5] ।
बहुला सेल इय पदाइ पत्तेक इगिसहस्सबहलाइ ॥१७॥
ताण खिदीण हेट्ठा पासाण णाम रयणसोलसम[6] ।
जोयणसहस्सबहल वेत्तासणसणिणहो मठाउ ॥१८॥
पकाजिरो दिसदि पव पकबहुलभागो वि ।
अप्पबहुलो विभाग सलिलसरुवस्सयो होदि (?) ॥१९॥
पव बहुविहरयणपयारभरिदो विरायदे जम्हा ।
रयणपहो त्ति[7] तम्हा भणिदा णिउणहि गुणणामा ॥२०॥
सकरवालुवपका धूमतमा तमतम च समचरिय ।
जेत (?) अवसेसाओ छप्पुढवीउ गुणणामा ॥२१॥
बत्तीसट्ठावीसं चउवीस वाम सोलसट्ठ च ।
हेट्ठिमछप्पुढवीण बहल्ल जोयण सहस्सा ॥२२॥

३२००० | २८००० | २४००० | २०००० | १६० ० | ८०००

तिगुणियछघउसट्ठीसट्ठिदुतिसट्ठिअट्ठचउरयणा ।
बहल्लत्त सहस्सा हेट्ठिमपोदवीयछ्रण पि ॥२३॥

१३२००० | १२८००० | १२०००० | ११८००० |
११६००० | १०८००० |

पाठान्तरम्

सत्त चिय भूमीउ णवदिसभाएण घणोवहा विलग्गा[8] ।
अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहिं[9] छिवदि ॥२४॥
पुव्वावरदिब्भाए वेत्तासणसण्णिहाउ मठाओ ।
उत्तरदक्खिणदीहा अणादिणिहणा य पुढवीओ ॥२५॥

---

1 S घवयणा 2 A B जा होंति तिए तण ; 3 मसारगल्लं (?) ; 4 S गोदिस्सं ; 5 वरयणाई (?) ; 6 सेलसम (?) ; 7 रयणप्पह त्ति (?), 8 S विलग्गा ; 9 S घणोवहि ।

चुलसीदीलक्खाणं णिरयबिला होंति सव्वपुढवीसुं ।
पुढवि पडिपत्तेक्कं ताणं पमाणं परूवेमो ॥२६॥
८४००००० ।

तीसं पणवीसं-च्च य पणरसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पणरहिदेक्कं लक्खं पंच य रयणाइ[1] पुढवीणं ॥२७॥
३०००००० । २५००००० । १५००००० । १०००००० ।
३००००० । ९९९९५ । ५ ।

सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणि[2] सेसेसु अप्पबहुलत्तं ।
उवरिं हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झीय हवंति [3]पडालकमे (?) ॥२८॥
पढमादिबितिचउक्के पंचमपुढवीए[4] तिचउक्कभागंतं ।
अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाघकरा ॥२९॥
पंचमि खिदिए तुरिमे भागे छट्ठीय[5] सत्तमे महीए ।
अदिसीदा णिरयबिला तट्ठिदजीवाण घोरसीदयरा ॥३०॥
बासीदिं लक्खाणं उण्हबिला पंचवीसदिसहस्सा ।
पणहत्तरिं सहस्सा अदिसीदि[6] बिलाणि इगिलक्खं ॥३१॥
८२२५००० । १७५००० ।

मेरुसमलोहपिंडं सीदं उण्हे बिलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंडं व ॥३२॥
मेरुसमलोहपिंडं उण्हं सीदे बिलम्हि पक्खित्तं ।
ण लहदि तल पदेसं विलीयदे लवणखंडं व ॥३३॥
अजगजमहिसतुरंगमखरोट्टमज्जारअहिणरादीणं ।
कुथिदाणं गंधेहिं णियरबिला[7] ते अणंतगुणा ॥३४॥
कक्खकवच्छुरीदो(?) खइरिंगाला तिक्खसूईए ।
कुंजरचिकारादो[8] णिरयबिला दारुणा तमसहावा ॥३५॥
इंदयसेढीबद्धा पइण्णया य हवंति वियप्पा ।
ते सव्वे णिरयबिला दारुणदुक्खाण संजणणा ॥३६॥
तेरसएक्कारसणवसगपंचतिएक्क इंदया होंति ।
रयणप्पहपहुदीसुं पुढवीसुं आणुपुव्वीए ॥३७॥
१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ३ । १

1 AS रयणोइ, 2 बिलाणि; 3 पडल (?); 4 S पुढवीय, 5 छट्ठीए (?); 6 **अदिसीद (?)**; 7 णिरयबिला (?); 8 चिक्कारादो (?) ।

पढमम्हि इ दयम्हि य दिसासु उणवण्णमेढिवद्धा य ।
अडदाल विदिसासु विदियादिसु एक्कपरिहीणा ॥३८॥

एक्क तेरसादी सत्तसु ठाणेसु मिलिदपरिमाणा ।
उणवण्णा पढमादी इ दयपडिणामय होति ॥३९॥[1]
सीमतगो य पढम णिरयो रोरुग य भतउन्भता ।
संभतयसंभत[2] विन्भता तथ तसिदा य ॥४०॥
वक्कतयवक्कता विक्कतो होति पढमपुढवीए ।
थणगो तणगो मणगो वणगो दाधो य दुघादो ॥४१॥
जिब्भाजिब्भगलोला लोलयथणलोलुगाभिधाणा य ।
एद विदियखिदीए एक्कारस इ दया होति ॥४२॥
११
तत्तो[3] सीदो तवणो तावणणामा णिदाघपज्जलिदो ।
उज्जलिदो सजलिदो संपज्जलिदो य तदियपुढवीए ॥४३॥
९
आरो मारो तारो तच्चो[4] तमगो तहेव खादय ।
खडखडणामा तुरिमखोणीए इ दया तस्स ॥४४॥
७
तमभमभसय [5]यावित्ततिमिसो दुच्चुपहा छट्ठीए ।
हिमवद्दल्लल्लका सत्तमअवणीए अवधिठाणो त्ति (?)॥४५॥
५ । ३ । १ ।
धम्मादीपुढवीण पढमिंदयपढमसेढिवद्धाण ।
णामाणि णिरूवेमो पुव्वादिपदाहिणो (?) कमेण ॥४६॥

1 ABS ४०; 2 A सम्भत, S सज्भत, 3 तत्ता(?); 4 S तसो; 5 AB यावित्त ।

कंखापिवासणामा महकखा अदिपिवासणामा य ।
आदिमसेढीबद्धा चत्तारो होंति सीमंते ॥४७॥
पढमो अणिच्चणामो विदिओ विज्झो तहा महाणिज्झो ।
महविज्झो य चउत्थो पुव्वादिसु होंति थणगम्हि ॥४८॥
दुक्खा य वेदणामा महदुक्खा तुरिमया अ महावेदा ।
तत्तिदियस्स एदे पुव्वादिसु होंति चत्तारो ॥४९॥
आरिंदए णिसट्ठो पढमो विदिओ वि अंजणणिरोधो ।
तत्तिउय अदिणिसतो महणिरोधो चउत्थो त्ति ॥५०॥
तमकिडए णिरुद्धो विमद्दणो अदिणिधुणामो[1] य ।
तुरिमो महाविमद्दणणामो पुव्वादिसु दिसासु ॥५१॥
हिमइंदयम्हि होंति हु णीला पंका य तह य महणीणा ।
महपंका पुव्वादिसु सेढीबद्धा इमे चउरा ॥५२॥
कालो रोरवणामो महकालो पुव्वपहुदिदिग्भाए ।
महरोरउ[2] चउत्थो अवधीठाणस्स चिंतेदि ॥५३॥
अवसेसइंदयाणं पुव्वादिदिसासु सेढिवद्धाणं ।
णत्ताइं णामाइं पढमाणं विदियपहुदिसेढीणं ॥५४॥
दिसविदिसाणं मिलिदा अट्ठासीदजुदा य तिण्णि सया ।
सीमंतएण जुत्ता उणणवदी समधिया होंति ॥५५॥

३८८ । ३८९ ।

उणणवदी तिण्णि सया पढमाए पढम पंथले[3] होंति ।
विदियादिसु हीअंते माघवियाए पुढं पंच ॥५६॥

३८९ ।

अट्ठाणं पि दिसाणं एक्केक्कं हीयदे जहाकमसो ।
एक्केक्कहीयमाणे परं जियं[4] होंति परिहाणे (?) ॥५७॥
इट्ठिंदियप्पमाणं रूऊणं[5] अट्ठताडिया णियमा ।
उणणवदितिसएसुं अवणिय सेसो हवंति य प्पडला ॥५८॥

अथवा।

इत्थे[6] पदरविहीणा उणवण्णा अट्ठताडिया णियमा ।
सा पंचरूवजुत्ता इच्छिदसेढिदया होंति ॥५९॥

1 अदिणिरुद्ध (?); 2 महरोरवो (?) 3 पत्थले (?) 4 AB अंतरजियं, 5 दूऊणं (?); 6 BS इच्छे।

उद्दिट्ठ पचूणं भजिद अट्ठेहिं सोधए लद्ध ।
ऊणाजयाणाहितो सेसा तत्थिंदया होंति ॥६०॥
आदीओ[1] णिद्दिट्ठा णियणियचरिमिंदयस्स परिमाणं ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठ 'णियणियपदराणि गच्छाणि (१) ॥६१॥
तेणउदिपुत्तदुसया पणजुददुसया सय च तत्तीसं ।
सत्तत्तरि सगतीसा तेरस रयणप्पहादि आदीओ ॥ २॥

२९३ । २०५ । १३३ । ७७ । ३७ । १३ ।

तेरसएक्कारसणवसगपचतियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वट्ठुत्तरमत[2] रयणपहाए-पहुदिपुढवीसु ॥६३॥

१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ५ । सव्वट्ठुत्तर ॥S॥

चयहदमिक्कूणपद रूवणित्थाए गुणिदचयजुत्त ।
गुणिद-चदयोण जुद पददलगुणिद हवेदि सकलिद ॥६४॥
पक्कोणमवणइ दयमट्ठियवग्गिज्जमूलसानुत्त ।
अट्ठगुण पचजुद पुढविंदयताडिदम्मि पुढविधणं ॥६५॥
पुढमा इदयसेढी चउदालसयाणि होंति तेत्तीसं ।
छस्सयदुसहस्साणि पणणउदी विदियपुढवीए ॥६६॥

४४३३ । २६९५ ।

तियपुढवीए इदयसेढी चउदससयाणि पणसीदी ।
सत्तुत्तराणि सत्त य सयाणि ते होंति तुरिमाए ॥६७॥

१४८५ । ७०७ ।

पणसट्ठा दोण्णिसया इदयसेढीए पचमखिदीए ।
तसट्ठा चरिमाए पचाए होंति णायव्वा ॥६८॥

२६५ । ६३ । ५ ।

पचादीअट्ठचय[3] उणवण्णा होदि गच्छपरिमाणं ।
सव्वाणं पुढवीणं सेढीबद्धिदयाण इदम ॥६९॥
४०१ चयहदमिट्ठादियपदमेकादिय[4]इट्ठगुणिदचयहीणं ।
दुगुणिदवदणेण जुद पददलगुणिदम्मि होदि सकलिद ॥७०॥

---

1 S णादीउ, 2 S सव्वट्ठुत्तरमंत, 3 AB अट्ठ चयं, 4 S-मइट्ठ ।

अथवा

अट्ठत्ताल दलिदं गुणिदं अट्ठेहि पंचरूवजुदं ।
उणवण्णाए पहदं सव्वधणं होइ पुढवीणं ॥५१॥
इंदयसेढीबद्धा णवयसहस्साणि छस्सयाणं पि ।
तेवण्ण अधियाइं सव्वाणि वि होंति रयणीसु ॥५२॥

९६५३

णियणियचरिमिंदयधणमेक्कोणं होदि आदिपरिमाणं ।
णियणियपदरा गच्छा पचया सव्वत्थ अट्ठेव ॥५३॥
बाणउदिजुत्तदुसया दुसय चउ सयजुदाणि बत्तीसं ।
छावत्तरि छत्तीसं बारस रयणप्पहादि आदीओ ॥५४॥

२९२ । २०४ । १३२ । ७६ । ३६ । १२ ।

तेरसएक्कारसणवसगपंचतियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं सेढिगणे सव्वपुढवीणं ॥५५॥
पदवग्गं[1] चयपहिदं दुगुणिदगच्छेण गुणिदमुहजुत्तं ।
वड्ढि[2]हदपदविहीणं दलिदं जाणिज्ज संकलिदं ॥५६॥

चयपदमित्थुणपदं

१३३ । ८ ।

रूउणिच्छाए गुणिदचयं

$\frac{१}{३}$ ८

जुदं

९

दुगुणिदेवादिसुगमं

चत्तारि सहस्साणि य चउस्सया वीस होंति पढमाए ।
सेढिगदा बिदियाए दुसहस्सा छस्सयाणि चुलसीदी ॥५७॥

४४२० । २६८४ ।

चोद्दसया छाहत्तरि तदियाए तह य सत्त सया ।
तुरिमाए सट्ठिजुदं दुसयाणि पंचमिए होदि णायव्वं ॥५८॥

१४७६ । ७०० । २६० ।

1 S पदवग्गं; 2 S वड्ढि, छड्ढि ?

प्रशस्ति-संग्रह

पं० क० भुजबली शास्त्री

मधुगिरि तालुक म अङ्गडि नामक स्थान मे प्रादुर्भूत हुआ था। इसीका प्राचीन नाम शशकपुर रहा। यहाँ पर सळ नाम के सामन्त ने व्याघ्र से एक जैन मुनि की रक्षा करने के कारण पोयिसळ (होयिसळ) नाम प्राप्त किया। विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ म यह वंश पहाडी था, पीछे विनयादित्य के उत्तराधिकारी बल्लाळ ने अपनी राजधानी शशकपुर से बेलूर म हटाली। द्वारसमुद्र (हळेबीडु) म भी उनकी राजधानी थी। इस वंश के विष्णुवर्द्धन के समय म होयिसळ नरेशों का प्रभाव बहुत ही बढ गया था। इसी समय गंगवाडि का पुराना राज्य भी सब उनके अधीन हो गया था और उन्होंने नई प्रदेशों को विजय द्वारा हस्तगत कर लिया था। प्रारंभ म विष्णुवर्द्धन जैन रहा, किंतु पीछे वैष्णव हो गया था। पर फिर भी इनकी तथा इनके परिवार-वर्ग की जैनधर्म म सदा गहरी सहानुभूति रही। होयिसळ राज्य पहले चालुक्य साम्राज्य के अन्तर्गत था, बाद नरसिंह के पुत्र वीरबल्लाळ के समय म यह राज्य स्वतन्त्र हो गया। यह वंश सदा से जैनियों का प्रधान पृष्ठ-पोषक रहा।

उल्लिखित राज्य की राजधानी ग्रन्थकर्ता ब्रह्मसूरि जी ने 'छत्र-त्रयपुरी' लिखा है। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों मे इस वंश की राजधानी सिर्फ तीन स्थानों म ही सिद्ध होती है जिनके नाम क्रमशः (१) शशकपुर (२) बेलूर (३) और द्वारसमुद्र या हळेबीडु है। पता नहीं कि सूरि जी द्वारा निर्दिष्ट छत्रत्रयपुरी कहा थी और कब इस राज्य के अन्तर्भुक्त हुई। संभव है कि द्वारसमुद्र को ही इन्होंने छत्रत्रयपुरी लिखा हो। क्योंकि एक जमाने म यह द्वार समुद्र जैनियों का केन्द्र सा बन गया था। बल्कि कहा जाता है कि उन दिनों वहाँ साढे सात सौ भव्य जिनमन्दिर थे और वैष्णव धर्म स्वीकार करने के बाद विष्णुवर्द्धन ने ही इन भव्य मन्दिरों को तहस-नहस कर दिया। वहा के जिनमन्दिरों के ध्वंसावशेष से भी यह पता चलता है कि उल्लिखित घटना वास्तविक है। अब हळेबीडु म केवल आदिनाथ, शान्तिनाथ एवं पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के तीन ही मनोज्ञ मन्दिर रह गये हैं, जो भारतीय शिल्पकला के आदर्शभूत बने हुए हैं। कविवर हस्तिमल्ल जी के सुपुत्र निर्दिष्ट पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमें चन्द्रनाथ और इनके परिवार पीछे हेमाचल (होन्नूर) म जा बसे। अवशिष्ट दो भाई भी अन्यान्य स्थानों म जाकर बस गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और इन्हीं के सुपुत्र इस प्रतिष्ठाचार ग्रन्थ के प्रणेता पण्डित ब्रह्मसूरि जी हैं।

सूरि जी ने प्रकृत प्रतिष्ठाग्रन्थगत अपनी वंश प्रशस्ति म अपने पूर्वजों का निवास स्थान पाण्ड्य देशान्तर्गत 'गुडिपत्तन द्वीप' बतलाया है। वर्तमान तंजोर जिलान्तर्गत 'दीपनगुडि' का ही यह प्राचीन 'गुडिपत्तन द्वीप' होना बहुत कुछ सम्भव है। मालूम होता है कि

लेखक की कृपा से ही 'द्वीपन' का 'द्वीप' लिखा गया है। क्योंकि वहाँ पर द्वीप का होना किसी तरह से सिद्ध नहीं होता। इस स्थान में जैनियों का प्रभाव अच्छा रहा है।

जैन समाज के कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानने के लिये सहमत नहीं हैं। क्योंकि उनका कहना है कि जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल श्राद्ध, तर्पण, गो-दान आदि कई बातें इस में विधिरूप में पायी जाती हैं। उन विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मसूरि जी के मूल पूर्वज हिन्दू धर्मावलम्बी थे—इससे उनके रचे ग्रन्थ पर हिन्दुत्व की छाप पड़ गयी है। कुछ विद्वान् इस आक्षेप का उत्तर यह देते हैं—प्रत्येक धर्म पर देश, काल आदि का विना प्रभाव पड़े नहीं रह सकता इसलिये इस अनिवार्य नियमानुसार बहुत कुछ सम्भव है कि बहुसंख्यक हिन्दू समाज में अपनी सत्ता कायम रखने और हिन्दुओं से सहानुभूति प्राप्त करने के लिये तात्कालिक कुछ जैनग्रन्थ-कर्त्ताओं को कुछ आचार ग्रन्थों में आपद्धर्म के रूप में उनका उद्देश जैनधर्मके अनुकूल बता कर स्थान देना पड़ा होगा।

---

(२५) ग्रन्थ नं० $\frac{२२०}{ख}$

रत्नमञ्जूषा

कर्त्ता— X

विषय -- छन्द

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इन्च चौड़ाई ६।।। इन्च पत्रसंख्या ६५

प्रारम्भिक भाग—

यो भूतभव्यभवदर्थयथार्थवेदी देवासुरेन्द्रमुकुटार्चितपादपद्मः।
विद्यानदीप्रभवपर्वत एक एव तं क्षीणकल्मषगणं प्रणमामि वीरम्॥

मायाका—मायाका इत्यस्य सर्वगुरुत्रिकस्य आकारः संज्ञा भवति ककारो वा स्वरोन्त्यस्तदन्तस्य व्यञ्जनं चेतिवचनात्। सूचिमुखिया इत्याकारस्य भद्रविराड्यिकिरे इति ककारस्य। अत्रैव माया इति गुरुद्वयस्य यकारः संज्ञा भवति व्यञ्जनञ्च तदन्तस्येति वचनादेवायियिनिति। पुनश्च अत्रैव मा इति गुर्वक्षरस्य मकारः संज्ञा भवति। व्यञ्जनं च

तदन्तस्येति वचनादत्र। म इति अन्ते एकस्मिन्नप्यायन्तवद्भावात्। स्ययोगे नपिमिति। अत्राह—जत्याकारादयस्तेषामेवाक्षराणां कृता यथा वृद्धिरादैजिति वृद्धिसंज्ञा तेषामेवाक्षराणां इति न तद्रूपसंज्ञाकरणं प्रयोजनाभावात्त मात्राणाम्। यान्यत्र तेषु त्रिकष्वक्षराण्युपदिष्टानि तेषां संज्ञाकरणानि प्रयोजनमितित मात्राणां संज्ञा संज्ञास्ता प्रत्ययगन्तव्या। अथवा शालिनि माल्येदित्यत्र छेदवचनं ज्ञापकमन्येषां इति त मात्राणां संज्ञा इति। यदि तेषामेव संज्ञा मायाका इति छेदवचनमनर्थकं भवति तस्मात्त मात्राकरणमेव।

× × × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ४६ पंक्ति ३०)

उपेन्द्रवज्रा शरे—यदि शरे इति न्यासो भवति, भवति उपेन्द्रवज्रा नाम।

उपेन्द्रवज्रायुतपाण्डवेषु स्थिनेष्वपि न्यातपरान्मेषु।

पुराभिमन्यु यदि चेज्जयेनान्यनर्थं स्तति कङ्कमन्य॥

इन्द्रमाला द्वयम्—यत्रेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे सहैकस्मिन् श्लोके भवत, भवति इन्द्रमाला नाम।

अम्लानमाला सुरसुन्दरीभि वृतेन्द्रमाला व्यपत दिवश्चेत्।

कालेन नार्या इव भुक्तमाला मर्त्या वय किं जन्तुद्रुदाभा॥

दोधक लुरे—यदि लुर इति न्यासो भवति, भवति दोधक नाम।

कालविधायिन नाटकवृत्त वर्णयितु भुवि सज्जनभव्य।

ग्रन्थरगममसो गिरिकृटात् सूयनट प्रविशन्निव भाति॥

रथोद्धता तिला—यदि तिलाविति न्यासो भवति, भवति रथोद्धता नाम।

सर्वभावविभितत्वदर्शिन सर्वसत्वहितग्रमदर्शिन।

अर्हतोऽहमघराशिनाशिन सम्तुवे त्रिभुवनप्रकाशिन॥

स्वागता तिले—यदि तिले इति न्यासो भवति, भवति स्वागता नाम।

धर्मतीर्थकरमुख्य नमस्ते नाथ नष्टभवबीज नमस्ते।

उग्रमरजनवृत्त नमस्ते हेमनाभजिनमान नमस्ते॥

× × × ×

अन्तिम भाग —

एकद्व्यादिलगक्रियाकसममसंख्यानेषु कोष्टान्तरे-

ष्वेकादीद्विगुणानवो विरचयेत्ताश्चोर्ध्वमेकोनकान।

इत्यन्तानधिमेकरेव महित स्याद्धमानाह्नय

छन्दस्वेकलगादिवृत्तजननस्थानं न्विह ज्ञायते॥९॥

एकद्वयादिलगक्रियातगणनामानप्रमाणालयै-
र्मेरुक्ष्माधरवद्विरूप्य खटिकोत्कीर्णैरथाद्यालये।
वृत्तं न्यस्य तदादिमं द्विगुणयंस्तस्याप्यधः स्थापये-
देकोनेन तदोपरि परिलिखेदेव हि मेरुक्रिया ॥१०॥

खण्डमेरुप्रस्तारो यथा—
सैकामेकगणोज्ज्वलामभिमतच्छन्दोऽक्षरागारिका-
मेकां श्रेणिमुपक्षिपन्नधरतोऽप्येकैकहीनाश्च ताः।
ऊर्ध्वं द्विद्विगृहां क्रमेलनमधोधः स्थानकेष्वालिखे-
देकच्छन्दसि खण्डमेरुरमलः पुंनागचन्द्रोदितः ॥११॥

एतत्प्रोक्तक्रमेण प्रस्तारे कृते विवक्षितच्छन्दसः लगक्रियया सह ततः पूर्वस्थितसकल-छन्दसां लगक्रियाः सर्वाः समायान्तीत्यर्थः॥

(इनके नीचे प्रस्तार के तीन कोष्ठक भी हैं)

दिगम्बर जैन-साहित्य-भाण्डार में छन्दोग्रन्थ-सम्बन्धी अजितसेन के छन्दःशास्त्र, वृत्तवाद एवं छन्दःप्रकाश, आशाधर के वृत्तप्रकाश, चन्द्रकीर्त्ति के छन्दःकोष (प्राकृत) एवं वाग्भट के प्राकृतपिङ्गल सूत्र ये ही नाम मिलते हैं। परन्तु इन में अभीतक कोई ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। अब रही प्रस्तुत पुस्तक 'रत्न-मञ्जूषा' की बात। पं० नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा संगृहीत "दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" इस ग्रन्थतालिका में इसके कर्त्ता हेमचन्द्र कवि बतलाये गये हैं। परन्तु इस छन्दोग्रन्थ के अन्तिम भाग के अन्तिम श्लोकान्तर्गत 'पुन्नागचन्द्रोदितः' इस वाक्य से तो ज्ञात होता है कि पुंनागचन्द्र या नागचन्द्र ही इसके प्रणेता हैं। प्रेमी जी के कथनानुसार अगर इस 'रत्नमंजूषा' के रचयिता हेमचन्द्र कवि होते तो 'पुन्नागचन्द्रोदितः' के स्थान पर बड़ी आसानी से 'श्रीहेमचन्द्रोदितः' लिख देते। क्योंकि ऐसा करने से छन्दोभंग का उन्हें जरा भी भय नहीं रह जाता था। साधनाभाव से इस समय इसके कर्त्ता के बारे में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका। यदि थोड़ी देर के लिये अर्थात् प्रेमी जी ने किस आधार पर इस का कर्त्ता हेमचन्द्र कवि लिखा है—यह बात जब तक स्पष्ट नहीं होती तब तक के लिये नागचन्द्र को ही इसका प्रणेता माना जाय तो महाकवि धनंजय-कृत विषापहार-स्तोत्र के संस्कृत टीकाकार कवि नागचन्द्र* की ओर मेरी दृष्टि कुछ कुछ आकृष्ट हो जाती है। पर यह एक अनुमान

* देखें—'प्रशस्ति-संग्रह' पृष्ठ ३७।

मात्र है। जब तक इस सम्बन्ध में कोई सबल प्रमाण नहीं मिलता है तबतक इसे कोई मानने को तैयार क्योंकर हो सकता है?

अब रहा इस छन्दोग्रन्थ का विषय। यह ग्रन्थ छोटे छोटे आठ अध्यायों में विभक्त है। इस प्रति को मैसूर राजकीय 'शास्त्रपुस्तकागार' से मैंने ही कनड़ लिपि से नागराक्षर में प्रतिलिपि कराई थी। इसके प्रथम अध्याय का कुछ अंश लुप्त सा ज्ञात होता है। इस लुप्तांश के बाद ही तीन पृष्ठों में मेरुसम्बन्धी प्रस्तार के पद्यबद्ध लक्षण सस्नोष्टक दिये गये हैं। कवि ने इस ग्रन्थ में प्रायः प्रत्येक छन्द पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके छन्दो-लक्षण पिंगलसूत्र के समान सूत्रमय हैं जो नितांत स्वतन्त्र हैं। छन्दों के दिये गये दृष्टांतों में यत्र-तत्र जैनत्व की छाप सुस्पष्ट प्रतिभासित होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस के कर्त्ता काव्यशास्त्र के एक उद्भट ममज्ञ थे। इसकी अन्यान्य प्रतियाँ जहाँ तहाँ से अन्वेषण पर मिलान कर इस रत्नभूत 'रत्नमंजूषा' के प्रकाशन से दिगम्बर जैनसाहित्य के एक अङ्ग की पूर्ति हो जायगी। अतः ग्रन्थ पुस्तक प्रकाशन संस्थाओं और जैन परीक्षालयों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। क्योंकि अबतक सभी जैन परीक्षालयों के पाठ्य ग्रन्थों में जैनेतर छन्दोग्रन्थ ही समाविष्ट होते आ रहे हैं।

---

(२६) ग्रन्थ नं० $\frac{२३७}{ख}$

सरस्वतीकल्प

कर्त्ता—मल्यकीर्त्ति

विषय—मन्त्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६॥। इञ्च   चौड़ाई ६ इञ्च   पत्रसंख्या ७

प्रारम्भिक भाग—

वारहअंग गिज्जा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चउदसपुव्वाहरणा ठावे दव्वाय सुन्दवी ॥
आचारशिरसं सूत्रकृतवक्त्रां (सरस्वतीं) सकण्ठिकाम्।
स्थानेन समयोद्ध (स्थानागसमयाश्रितां) व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम्॥

वाग्देवतां ज्ञातृकथोपासकाध्ययनस्तनीम् ।
अन्तकृद्दशसन्नाभिमनुत्तरदशांगताम् ॥
सुनितम्बां सुजघनां प्रश्नव्याकरणाश्रिताम् ।
विपाकसूत्रदृग्वादचरणां चरणाम्बराम् ॥
सम्यक्त्वतिलकां पूर्वचतुर्दशविभूषणाम ।
तावत्प्रकीर्णकोद्दीर्णचारुपत्राङ्कुरश्रियम ॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ३, पंक्ति ७)—

स्याद्वादकल्पतरुमूलविराजमानां रत्नत्रयाम्बुजसरोवरराजहंसीम् ।
अङ्गप्रकीर्णकचतुर्दशपूर्वकायामाम्नायवाङ्मयवधूमहमाह्वयामि ॥

शारदाभिमुखीकरणम्—

अविरलशब्दमहौघा प्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥
ॐ ह्रीं श्रीं मन्त्ररूपे विबुधजननुते देवि देवेन्द्रवन्द्ये
चञ्चच्चन्द्रावदाते क्षपितकलिमले हारनीहारगौरे ।
भीमे भीमाट्टहासे भवभयहरणे भैरवि भीरु धीरे
ह्रां ह्रीं ह्रूं कारनादे मम मनसि सदा शारदे तिष्ठ देवि ॥

× × × ×

अन्तिम भाग —

परमहंसहिमाचलनिर्गता सकलपातकपंकविवर्जिता ।
अमितबोधपयःपरिपूरिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
परममुक्तिनिवाससमुज्ज्वलं कमलयाकृतवासमनुत्तमम् ।
वहति या वदनाम्बुरुहं सदा दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
सकलवाङ्मयमूर्त्तिधरा परा सकलसत्त्वहितैकपरायणा ।
... · नारदतुम्बुरुसेविता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
मलयचन्दनचन्द्ररजःकणा प्रकरशुभ्रदुकूलपदावृता ।
विशदहंसकहारविभूषिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
मलयकीर्त्तिकृतामितिसंस्तुति (पठति यो) सतत मतिमान्नरः ।
विजयकीर्त्तिगुरुकृतमादरात् स मतिकल्पलताफलमश्नुते ॥

इस 'सरस्वतीकल्प' के अन्तिम पद्य में इसके रचयिता मल्यकीर्त्ति ज्ञात होते हैं। साथ ही साथ इसी पद्य से यह भी विदित होता है कि यह मल्यकीर्त्ति प्राय विजयकीर्त्ति-गुरु के शिष्य हैं। पर "विजयकीर्त्तिगुरुरतमात्सरात्" इस चतुर्थ चरण का सम्बन्ध किसके साथ है—यह अभी ठीक नहीं समझ पडता। बहुत कुछ सम्भव है कि इस श्लोक की प्रतिलिपि करने में लेखक ने भूल की हो। इसलिये जबतक इसकी शुद्ध प्रति नहीं मिलता तबतक सन्देह-निवृत्ति होती नहीं दीख पडती।

अस्तु 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' जिल्द ८ के शिलालेख नं० १०४ म एक विजयकीर्त्ति-गुरु का उल्लेख मिलता है। मल्यकीर्त्ति के द्वारा प्रतिपादित विजयकीर्त्तिगुरु यदि यही हो तो उक्त शिलालेख के ही आधार से इनका समय सन् १३८४ अर्थात् १४ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।* अत इस सरस्वतीकल्प के रचयिता मल्यकीर्त्ति का समय भी लगभग यही होना चाहिये। अस्तु अर्हद्दास-रचित भी एक 'सरस्वतीकल्प' सुना जाता है। यह इससे भिन्न होना चाहिये। इस कृति के आदि और अन्त म 'सरस्वतीकल्प लिखा मिलता है। मन्त्रशास्त्र में कल्प का लक्षण यों बतलाया है—जिन ग्रन्थों में मन्त्र विधान, यन्त्र-विधान, मन्त्र-यन्त्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आह्वान, पूजन, विसर्जन और साधनादि बातों का वर्णन किया गया हो वे ग्रन्थ 'कल्प' कहलाते हैं।† प्रधानतया इस प्रस्तुत कृति को एक मन्त्र-स्तोत्र ही कहना चाहिये। फिर भी यन्त्रोद्धार, जाप्य एवं होममन्त्र आदि का इसमें उल्लेख पाया जाता है—इसी से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता ने कल्पनाम की सार्थकता समझी होगी। मन्त्रशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये इसके निम्नलिखित कतिपय श्लोक उपयोगी हैं —

"जाप्यकाले नम शब्द मन्त्रस्यान्ते नियोजयेत्।
तद्वत् होमकाले तु स्वाहा शब्द नियोजयेत्॥
सवृन्तक समादाय प्रसूनं ज्ञानमुद्रया।
मन्त्रमुच्चार्य सन्मन्त्री मुञ्चेदुच्छ्वासरचनात्॥
महिषाक्षगुग्गुलेन प्रविनिर्मितजापकमालवटिकानां।
मधुरत्रययुक्तानां होमो वागीश्वरी [illegible]॥
त्रिकालपुष्पसमपहृतानां भव्य परिगाय जपेत् स मन्त्री।
न चान्यथा सिध्यति तस्य मन्त्र कुर्वन् सदा तिष्ठतु जाप्यहोमम्॥

* देखें— मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ ३११

† मन्त्रशास्त्र के विषय में विशेष बात जानने के इच्छुक विद्वान् भास्कर भाग ४, किरण ३ में प्रकाशित 'जैनमन्त्र शास्त्र' शीर्षक लेख देखें।

द्वादशसहस्रजाप्यैर्दशाङ्गहोमेन सिद्धिमुपयाति ।
मन्त्रो गुरुप्रसादात् ज्ञातव्यस्त्रिभुवने सारः ॥
अकारोऽनन्तवीर्यात्मा रेफो विश्वावलोकदृक् ।
हकारः परमो बोधो बिंदुः स्यादुत्तमं सुखम् ॥
नादो विश्वात्मकः प्रोक्तो बिन्दुः स्यादुत्तमं पदम् ।
कलापीयूषनिःस्यन्दीत्याहुरेवं जिनोत्तमाः ॥"

इसकी रचना साधारणतया अच्छी है ।

---

(२७) ग्रन्थ नं० $\frac{२४१}{ख}$

वज्रपंजराधना-विधान

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना
भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६।।। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ६

प्रारम्भिक भाग —

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्फारकीर्त्तिकान्तोशान्तम् ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रप्रभ जिनदेवागच्छ—
तीर्थोपनीतैर्वनसारशीतैः पातप्रपाद्य. घुसृणाद्युपेतः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥
ओं ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
सुगन्धसारैर्वनगन्धसारैः सिताभ्रसारैः सितभासगौरैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥ गन्धम्
शाल्यक्षतैरक्षतमोक्षलक्ष्मीकटाक्षविक्षेपवलक्षकक्षैः ॥
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥ अक्षतान्

× × × ×

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

इसका काली मिच तथा महुए के फूल के साथ सेवन करने से तेरह प्रकार का सन्निपात दूर हो जाता है। इस गोली को एक मास तक लगातार सेवन करने से सब प्रकार की व्याधि शांत हो जाती है। यह श्रीपूज्यपाद स्वामी की कही हुई प्रभावती वटी है।

११६—ज्वरादौ लघुज्वरा-कुश

रसगंधकताम्राणां प्रत्येकं चैकभागकम्।
शल्व सूर्याग्निभागाश हयारिं धूतवीजयो ॥ १ ॥
मातुलुंगरसेनैव मर्दयेद्वासर-त्रयम्।
कासमर्दकतोयेन सिद्धोऽयं जायते रस ॥ २ ॥
निंवमज्जार्द्रकरसं वल्लो देयं त्रिदोषनित्।
ज्वरे दध्योदनं पथ्यं शाकं स्यात्तण्डुलीयकं ॥ ३ ॥
सर्वज्वरविपघ्नोऽयं चानुपानविशेषत।
लघुज्वराकुशो नाम पूज्यपादेन भाषितं ॥ ४ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गधक, तामे की भस्म, ये तीनो एक एक भाग, शुद्ध कनेर की जड १२ भाग एव शुद्ध धतूरे के बीज ३ भाग इन सब को एकत्रित कर बिजोरा नीबू और कसौदन के रस मे ३ दिन तक मदन कर एक एक रत्ती की गोली बांध लेवे, फिर नीम की निंबोडी की गिरी तथा अदरख के साथ तीन गोली देवे तो त्रिदोषज ज्वर भी शांत होवे। इस रस के ऊपर दही भात का भोजन करना तथा चौलाइ का शाक खाना चाहिये। यह लघु ज्वरांकुश अनुपान भेद से सब ज्वरो को नाश करनेवाला श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

११७—अनेकरोगे त्रिलोक चूड़ामणि-रस

पारदं टकणं तुल्यं विषं लागलिकं तथा।
पुत्रजीवस्य मज्जा च गंधकं गुंजपत्रकम् ॥१॥
देवदाल्या रसेनैव त्रिपादीरसमर्दितं।
विष्णुक्रांतानागदंतीधत्तूरनागकेशरै ॥२॥
मर्दनं दिनमेकं तु चटनीनप्रमाणकम्।
जंबीररसतो लेह्य पानलेपननस्यके ॥३॥

अंजनं सर्वकार्ये वा ज्वरज्वालाशनाकुले ।
ब्रह्मराक्षसभूतादिशाकिनीडाकिनीगण—॥४॥
कालस्त्रमहादैत्यन्द्रमातंगकेशरि—
रूपमादि सुसंस्थाप्य श्रीदेवस्वरूपिणम्॥५॥
पूजन चाशु कृत्वा च यथायोग्यं प्रकल्पयेत् ।
कथितोऽयं त्रिलोकस्य चूडामणिमहारसः ॥६॥
पार्श्वनाथस्य मंत्रेण स्तंभो भवति तत्क्षणम् ।
पूज्यपादेन कथितः सर्वमृत्युविनाशनः ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे की भस्म, तूतिया की भस्म, शुद्ध विष, लांगली (कलिहारी) की जड़, शिवापोता की सींगी, शुद्ध आंवलासार गंधक तथा गुंजावृक्ष के पत्ते इन सब को बराबर-बराबर लेकर पहले पारे, गंधक की कज्जली बनावे; पीछे और सब दवाइयाँ अलग अलग कूट-कपड़-छन करके मिलावे तथा देवदाली, हंसराज, हुल्हुल नागदौन, धतूरा, नागकेशर इन सबके स्वरस से अथवा क्वाथ से एक-एक दिन अलग घोटे और बट के बीज-समान गोली बनाकर जंभीरी के रस के साथ सेवन करावे। मूर्छावस्था में नास भी देवे, आवश्यकता आने पर या सन्निपात की दशा में अञ्जन भी लगावे। इसका सेवन करने से कठिन से कठिन ज्वर भी शांत होता है। इसका जब सेवन करे तब ब्रह्मराक्षस, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि व्यन्तर-रूपी मातंग के लिये सिंह सदृश श्रीजिनेन्द्र देव की स्थापना करके पूजन करे तो शीघ्र ही लाभ होता है और श्रीपार्श्वनाथ स्वामी के मंत्र से तो उसी क्षण रोग का स्तम्भन होता है। यह तीन लोक का शिरोमणि त्रिलोक चूड़ामणि रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ अपमृत्यु का नाश करनेवाला है।

११८—सर्वज्वरे ज्वरांकुशरसः

पारदं गंधकं ताम्रं टंकणं कटुकत्रयम् ।
चित्रकं निंबबीजानि यवक्षारं च तालकम् ॥१॥
एरंडबीजसिंधूत्थं हारीतक्यं समांशकम् ।
शुद्धस्य वत्सनाभस्य पंचभागं च निक्षिपेत् ॥२॥
जैपालं द्विगुणं चैव निर्गुण्ड्याः मर्दयेद्द्रवैः ।
दशव्रीहिसमो देय सर्वज्वरगजांकुशः ॥३॥
पृथिव्या चाजमोदेन पिष्टैश्च सहितं जलैः ।
ज्वरादिष्वपि रोगेषु सर्वेषु हितकृद्भवेत् ॥४॥

अनुपानविशेषेण सर्वरोगेषु योजयेत् ।
पथ्या शुंठीं गुडं चानु चाशरोगे प्रयोजयेत् ॥५॥
क्षीरान्नमाज्यं भुंजीत शिग्रुतोयेन पाययेत् ।
आर्द्रकस्य रसेनापि यथाऽऽदोषविशेषिते ॥६॥
शीतज्वरे सन्निपाते तुलसीरससंयुत ।
मरिचेन सहितश्चासौ सर्वज्वरविनाशन ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, सोने की भस्म, सुहागा, सोंठ मिर्च, पीपल, चित्रक, नीम के बीज, जवाखार, तबकिया हरताल की भस्म, अरंडी के बीज, सेंधा नमक, बडी हर का छिलका ये सब बराबर बराबर लेवे और शुद्ध वच्छनाग, पाँच भाग, शुद्ध जमालगोटा २ भाग, इन सब को एकत्रित कर के भंगड के स्वरस म घोटे एव दस-दस चावल क बराबर बडी इलायची तथा अजमोदा के पानी के साथ दवे तो सब प्रकार के ज्वर शान्त होवे। यदि बवासीर रोग में देना हो तो हर, सोंठ, गुड का अनुपान दवे और दूध-भात का भोजन करावे। शीतज्वर म मुनक्का के काढे से तथा अदरख के क साथ, सन्निपात म तुलसी क रस के साथ एव विषमज्वर म काली मिर्च क साथ दव। यह रस सब ज्वरो का नाश करता है।

११९—प्रमेहे वगेश्वररस

सूत च वगभस्म च नागुलीबीजमभ्रकम् ।
शिलाजतु लौहभस्म कनक कतकबीजकम् ॥१॥
गुडूचीत्रिफलाक्वाथे मर्दयेद्गुटिका दिन ।
वगेश्वररसो नाम चानुपान प्रकल्पयेत् ॥२॥
कपित्थफलद्राक्षा च खर्जूरीयष्टिकेन च ।
नष्टेन्द्रिय च दाह पित्तज्वरपथश्रमम् ॥३॥
मेहानां मज्जदोषाणा नाशको नात्र सशय ।
सप्तप्रमेहविध्वसी पूज्यपादेन भाषित ॥४॥

टीका—शुद्ध पारे की भस्म, वगभस्म, रामना के बीज, अभ्रक भस्म, शुद्ध शिलाजीत, लोह भस्म, सोने की भस्म, कतक के बीज, निर्मली इन सब का एकत्रित कर के गुर्च तथा त्रिफला के काढे से दिन भर मदन करे तो यह वगेश्वर रस तैयार हो जाता है। इसको सेवन कराने के लिये वैद्यगण अनुपान की कल्पना करें अथवा कैथ, मुनक्का, खजूर,

मुलहठी इन सब के अनुपान से उसको सेवन करावे। इसके सेवन कराने से इन्द्रिय की कमजोरी, दाह, पित्तज्वर, मार्ग में चलने की थकावट, सर्व प्रकार के प्रमेह, मज्जा, धातु के दोष इन सब को नाश करनेवाला है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। यह सब प्रकार के प्रमेहों को दूर करनेवाला श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२०—सर्वज्वरे मृत्युञ्जयरसः

रसगंधकौहि जयपालः तालकश्च मनःशिला।
ताम्रश्च माक्षिकः शुंठीमुसलीरसमर्दितः ॥१॥
कुक्कुटे च पुटे सम्यक् पक्तव्यः मृदुवह्निना।
स्वांगशीतलमुद्धृत्य गुंजामात्रप्रमाणकम् ॥२॥
शुद्धशर्करया खादेत् शीततोयानुपानतः।
पथ्ये क्षीरं प्रयोक्तव्यं दधि वापि यथारुचि ॥३॥
संततादिज्वरघ्नोऽयमनुपानविशेषतः।
मृत्युञ्जयरसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध जमालगोटा, हरताल भस्म, शुद्ध मेनशिल, तामे की भस्म, शुद्ध सोनामक्खी, सोंठ इन सब को मुसली के रस से मर्दन करे तथा कुक्कुट पुट में पाक करे और ठंढ़ा होने पर निकाल कर एक-एक रत्ती के प्रमाण से मिसरी की चासनीके साथ शीतल जलके अनुपान से सेवन करावे। पथ्य में दूध देवे तथा रोगी को अरुचि होवे तो दधि भी खिलावे (?)।यह संततादि ज्वरों को नाश करनेवाला मृत्युञ्जय रस पूज्यपाद स्वामीने कहा है।

मतान्तर

ताप्यतोलकनेपाल-वत्सनाभं मनःशिला। ताम्रगन्धकसूताश्च मुसलीरसमर्दिताः ॥
मृत्युञ्जय इति ख्यातः कुक्कटीपुटपाचितः। वल्लद्वयम् प्रभुंजीत यथेष्टं दधि भोजनम् ॥
नवज्वरं सन्निपातं हन्यादेष महारसः ॥

१९ तरहका मृत्युञ्जय रस है यह १४ के पाठ से मिलता है। एक चीज का फर्क है, इस में सोंठ है उसमें सिंगिया लिखा है। इस ग्रन्थ के रस रसरत्न-समुच्चय, रससुधाकर, रसपारिजात से अधिक मिलते हैं। रसरत्नसमुच्चय बौद्धों का बनाया हुआ ग्रन्थ प्रसिद्ध है; मुमकिन है यह उसी समयका हो।

१२१—शीतज्वरे शीतभंजरस

पारद रसक तालं शिला तुत्थ च टंकणम् ।
गन्धक च सम पिष्ट्वा कारवेल्या रसैर्दिनम् ॥ १ ॥
शिग्रुमूलरसै पिष्ट्वा निर्गुण्डी स्वरसेन च ।
ताम्रपत्रे प्रलिप्या च भाण्डे पत्रमधोमुखम् ॥ २ ॥
कृत्वा रुध्वा मुख तस्य वालुकाभि प्रपूरयेत् ।
पश्चाद्वह्निना तुल्या ताम्रपत्रस्य रक्तता ॥ ३ ॥
एव पुटत्रय दद्यात् स्वांगशीतलमुद्धरेत् ।
ताम्रपत्र समुद्धृत्य चूर्णयेमरिच समम् ॥ ४ ॥
शीतभंजरसो नाम पर्णखण्डरसेन च ।
शीतज्वरविषघ्नोऽय पूज्यपादेन भाषित ॥ ५ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध खपरिया की भस्म, हरताल की भस्म, शुद्ध मिला, शुद्ध तूतिया की भस्म, टंकण भस्म, शुद्ध गन्धक इन सबको बराबर-बराबर लेकर खरल म एकत्रित करके करेले के पत्ता के रस से एक दिन भर घोटे तथा एक दिन मुनगा के स्वरस से घोंटे, एक दिन नेगड के रस से घोटे और शुद्ध पतले तामे के पत्ता पर लेप करके एक हंडी में रख कर नीचे को मुख करके उसका मुख बन्द करके बाकी की जगह बालू से पूर्ण कर नीचे म अग्नि जलावे, जब वह तामे का पत्र लाल वर्ण हो जाय तब निकाल लेवे। इस प्रकार तीन पुट देवे, जब ठीक पाक हो जाय तामे के पत्ता को निकाल कर सब चूर्ण बना कर रख लेवे और काला मिर्च बराबर मिला कर पान के रस के साथ यथा योग्य मात्रा से यह शीतज्वर रूपी विष को नाश करनेवाला शीतभज रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२२—श्वासादौ अमृतसजीवनो रस

सूतश्च गन्धको लोहो विषश्चित्रकपत्रकौ ।
विडग रेणुका मुस्ता चैला ग्रन्थिककेशरौ ।
त्रिकटुस्त्रिफला चैव शुल्बभस्म तथैव च ॥
एतानि सममागानि द्विगुण गुडमेव च ।
तोलप्रमाणवटिका प्रातःकाले च भक्षयेत् ॥
श्वासे कासे क्षये मेहे शूलपाडुगुदांकुरे ।

चतुरशीतिवातेषु योजयेन्नात्र संशयः ॥
अमृतसंजीवनो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥ ४ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, लोह भस्म, शुद्ध विष, चित्रक, तेजपत्र, वायविडंग, रेणुका बीज, नागर मोथा, छोटी इलायची, पीपरामूल, नागकेशर, सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, तामे की भस्म, इन सबको बराबर-बराबर लेकर सबके दुगुना पुराना गुड़ लेकर गोली बनावे तथा प्रातःकाल में अनुपान-विशेष से सेवन करे तो श्वास, खांसी, राजयक्ष्मा, प्रमेह, शूलोदर, पांडु रोग, बवासीर तथा ८४ प्रकार के वायु रोग शांत होते हैं। यह अमृतसंजीवन रस भी पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२३—विबंधे नाराचरसः

अष्टौ निस्तुषजैपालजशुद्धं भागत्रयं नागरं।
द्वे गंधे मरिचं च टंकणरसौ भागैकमेकं पृथक् ॥
गुंजामात्रमिदं विरेचनकरं देयं च शीतांबुना।
गुल्मप्लीहमहोदरादिशमनो नाराचनामा रसः ॥ १ ॥

टीका—आठ भाग शुद्ध जामालगोटाके बीज तीन भाग सोंठ, दो भाग शुद्ध गन्धक, काली मिर्च, सुहागा, शुद्ध पारा एक-एक भाग खरल में डाल कर खूब घोंटे तथा एक-एक रत्ती की मात्रा से शीतल जलके अनुपान से सेवन करावे तो इस से गुल्म, प्लीहा और उदर-रोग शांत होता है।

१२४—शीतज्वरे शीतमातंगसिंहरसः

रसविषशिखि तुल्यं खर्परं चैकभागम्।
अनलद्विकसमानभागमेतत्क्रमेण ॥
कनकदलरसेन पीतगुंजैकमात्रः।
परिमितगुटिका स्यात् शीतमातंगसिंहः ॥ १ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग तृतिया की भस्म, खपरिया भस्म एक-एक भाग, चित्रक दो भाग इन सब को एकत्रित करके धतूरेके रस से घोंटे तथा एक-एक रत्ती प्रमाण सेवन करे तो इससे शीतज्वर दूर होवे।

१२५—ज्वरादौ प्राणेश्वररस.

भस्म सूत यथा कृत्वा मासिक चाभ्रसत्त्वकम् ।
शुल्वभस्मापि सयोज्य भागरस्याक्रमेण च ॥
तालमूलीरसं दत्त्वा शुद्धगधकमिश्रितम् ।
मर्दयेत् खल्वमध्ये च नितरा याममयोर्द्धयम् ॥
निक्षिप्य काचकूप्यां च मुद्रया कूपिका तथा ।
खटिकामृद समादाय लेपयेत् सप्तवारकम् ॥
विपरीत परिस्थाप्य प्ररयेत् वालुकामयम् ।
यत्र प्रज्वालयेद्याम चतुरो वह्निना पुर ॥
सिद्धते रसराजेन्द्रो बलिपूजाभिरच्चयेत् ।
अनुपान तदा दद्य मरिच नागर तथा ॥
त्रिक्षार पचलवर्णा रामठ चित्रमूलकम् ।
अजमोद जीरक चैव शतपुष्पाचतुष्टयम् ॥
चूर्णयित्वा तथा मत्र भक्षयेच्चानुवासर ।
रसराजेन्द्रनामाय विख्यातो प्राणिशांतिकृत् ॥
अय प्राणेश्वरो नाम प्राणिनां शांतिकारक ।
प्रातर्निगमकालेऽपि रसक प्राणिना तथा ।
भक्षयेत् पर्णखण्डेन कदूष्णेनापि वारिणा ॥
ज्वर त्रिदोषजे घोर सन्निपात च दारुणे ।
प्लीहायां गुल्मवाते च शूले च परिणामजे ॥
मन्दाग्नौ ग्रहणीरोगे ज्वरे चैवातिसारके ।
अय प्राणेश्वरो नाम भवेन्मृत्युविवर्जित ।
सर्वरोगविनाशोऽय पूज्यपादेन भाषित ॥

टीका—पारे की भस्म १ भाग, सोना मक्खी की भस्म २ भाग, अभ्रक की भस्म ३ भाग, तामे की भस्म ४ भाग, ये सब लेकर मुसली के स्वरस मे घोंटे तथा उसमें १ भाग शुद्ध गन्धक मिलावे, उसमें ६ घण्टे तक बराबर घोंटे, सुखा कर कांचकी शीशी में रख कर मुद्रा देकर बन्द करे । उसके ऊपर खड़िया मिट्टी से सात कपडमिट्टी करे और सुखावे, फिर सुखा कर उसके चारों तरफ बालुका मे पूरण कर, १२ घण्टे बराबर आग जलावे, तब रस मे से यह प्राणेश्वर रस सिद्ध हो जाता है । जब सिद्ध हो जाय तब देवता-पूजन वगैरह धार्मिक क्रिया करे । इस औषधि के सेवन करनेके बाद नीचे लिखा चूर्ण अनुपानरूप सेवन करे ।

अनुपान

काली मिर्च, सोंठ, सज्जीखार, जवाखार, सुहागा, पांचों नमक, हींग, चित्रक, अजमोद, जीरा सफेद एक-एक भाग तथा सौंफ ४ भाग सब को चूर्ण करके प्रतिदिन सेवन करे। इस रस का दूसरा नाम रस राजेन्द्र है। यह प्राणियों को शांति करनेवाला प्रसिद्ध है। वास्तव में इस का दूसरा नाम प्राणेश्वर रस है। प्राणों के निकलने के समय भी यह प्राणों का रक्षक है। इसको पानके रसके साथ गर्म जल के साथ सेवन करे तो यह त्रिदोषज ज्वर, कठिन से कठिन सन्निपात, प्लीहा, गुल्म रोग, वात रोग, परिणाम-जन्य शूल, मन्दाग्नि, ग्रहणी और ज्वरातिसार में लाभदायक है। रोगरूपी विष का नाश करनेवाला और मृत्यु को जीतनेवाला यह प्राणेश्वररस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है

१२६—जलोदरे शूलगजांकुशरसः

निष्कत्रयं शुद्धसूतं द्विनिष्कं शुद्धटंकणम्।
गंधकं पंचभागं च चैकनिष्कश्च तिन्दुकः ॥ १ ॥
चतुर्निष्कश्च जैपालः तस्य द्विगुणताम्रकम्।
सर्वतुल्य-तिलक्षारः वृक्षारलं क्षारमेव च ॥ २ ॥
तद्वत्पलाशभस्मं च परिणष्कं सैंधवोपगम्।
यवक्षारविड्लवणानि वर्चलसामुद्रके तथा ॥ ३ ॥
पिप्पलीत्रयनिष्कं वै चार्कदुग्धेन मर्दयेन्।
निष्कमात्रप्रयोगेण जलोदरहरश्च सः ॥ ४ ॥
शूलगजांकुशरसः पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—८ माशा शुद्ध पारा, ६ माशा शुद्ध सुहागा, १। तोला शुद्धगन्धक, ३ माशा शुद्ध कुचला, १ तोला शुद्ध जमालगोटा, २ तोला तांबे की भस्म, ५॥। तोला तिली का क्षार, ५॥। तोला तिन्तडीक का क्षार, ५॥। तोला पलास का क्षार, १॥ तोला सेंधा नमक, १॥ तोला काली मिर्च, १॥ तोला जवाखार, १॥ तोला विड नमक, १॥ तोला काला नमक, १॥ तोला समुद्र नमक, ९ मासा पीपल इन सब को कूट कपड़छन करके अकौवा के दूध में घोंट कर तीन-तीन रत्ती के प्रमाण से गोली बनाकर अनुपानविशेष से देवे तो जलोदर दूर होवे। यह शूलगजांकुश रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

ॐ

THE

JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol III]   DECEMBER 1937   [No III

Editors

Prof HIRALAL JAIN M A, LL B, P E S,
Professor of Sanskrit
King Edward College Amraoti, C P

Prof A N UPADHYE, M A,
Professor of Prakrata
Rajaram College Kolhapur, S M C

B KAMTA PRASAD JAIN, M R A S,
Aliganj Distt Etah U P

Pt. K BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library Arrah

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 4   Foreign Rs 4-8,   Single Copy 1-4

Om

THE
JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol III No III	ARRAH (INDIA)	Decr 1937

PODANAPURA AND TAKSAŚILA

BY

KAMTA PRASAD JAIN M R A S

Takṣaśilā was a flourishing city of ancient India and it has been identified with the ruins near Shāhdheri in the Rawalpindi district of the Punjab province [1] Likewise Podanapura was an important town of India with a very remote antiquity but so far it has not been pointed out with a certainty that where it had its location The learned editor of the Bhavisayatta Kahā in his introduction, however endeavoured to locate Podanapura in the Punjab province rather he identified it with Takṣaśilā [2] But taking into consideration the available information about Podanapura his view is hardly tenable In the following lines I shall collect and give the available information about Podanapura endeavouring to point its most probable locality

1 Ancient Geography of India Notes p 681.

2 Gaekwad Oriental Series No XX

In the history of the Jainas, Podanapura holds a prominent place and the earliest mention of it in the Jaina literature, is found in the "Padmacarit" of Ravişena, where it has been described as Pautana, the capital of Vāhubalî, who was the son of Ṛṣabhadeva, the first Jaina Tîrthankara and who having fought successfully with his elder brother Bharata Cakravarti, renounced the world and became a naked saint, only to be first to attain liberation in this cycle of time[1] This very story has been narrated also, by the authors of Harivamśapurāna[2] and Mahāpurāna[3] They style it as Podana In the Mahāpurāna it is said that the messenger who was sent by Bharat to Bāhubali's capital Podanapur saw it filled with rice and sugarcane fields and the remarkable thing is that he reached Podanapura from Ayodhyā in a limited time. And it is stated in Harivamśapurāna that the messenger started from Ayodhya to west in order to reach Podanapura[4]

Besides Podanapura's prominent mention in connection with Vāhubali, we hear of it in the life story of Pārśvanātha, the 23rd Tîrthankara. The scene of the very first prebirth of the pious soul of Lord Pārśva is laid up in Podanapura of the time of one Rājā Aravinda Aravinda's priest was Viśwabhūti, who had two sons Kamatha and Marubhūti The latter's soul becomes the great Jain saint in an after birth[5] The story is so fascinating that it has been narrated by many a Jain poet The renowned author of the "Pārśvābhyudaya," I mean Sri Jinasena, intervenes the most of the famous 'Meghadūta' of Kālidās in his Kāvya. He had pointed there that Kamatha, the brother of Marubhūti, having been banished from Podanapura, joined an Aśrama of Tāpasas at the Rāmgiri hill, which was situated on a bank of a river.

Śri Vādirājaśuri in his "Pārśvacarit" has also described Podanapura, as the capital of Suramyadeśa, famous for its Sāli

1. Padmacarit, Parva IV, śl., 67–77.
2. Harivamśa purā[illegible] XI.
3 Mahāpurāna (I[illegible] [illegible]rva XXXV.
4. Harivamśa, Su[illegible]
5. Bloomfield's [illegible] of Pārśvanātha & भगवान पार्श्वनाथ

rice and had in its vicinity a mountain named Bhūtācala [1] Śrī Gunabhadrācārya in his Uttarapurāna [2] and Bhāvadevasūri in his Pārśvacarit also describe this story and mention Podanapura as Paudana and Potana respectively

Kavi Dhanapāla in his Bhavisayattakahā also mentions Podana pura As the king of Kuru country refused to give his daughter in marriage to the King of Podanapura the latter attacked him and a battle was fought. The allies of Kurus were Pancāla Maccha and Kacchavas (Pancala maccha Kacchehivohi) The allies of the oppo site king of Podanapura were Sindhupati Lambakanna and a few others [3]

In the Uttarapurāna of Gunabhadrācārya Podanapura has been described again and again as the capital of Suramya country which was situated in the southern part of Bharat or Bhāratavarṣa [4] Besides Pārśvanātha as we have already seen Podanapura has been connected there with the stories of Nārāyana Tripraṣta and various other kings One of the kings of Podanapura by name Puranachandra had for his queen the princess of the king of Sāketa [5] Another king of Podanapura was Vasusena whose queen Nandā being a beautiful lady was taken away treachorously by his friend Caṇḍa the king of Malaya [6] In the Rāmāyana period the king of Podanapura was Tranapingala [7] while in the times of Mahābhārata one Indravarmā ruled there who was a descendant of Vāhubali [8] King Siṃharatha of Podanapura had enemity with Jarāsindha of Rajagraha [9] Lastly when Mahāvīra the last Jaina

1 प्रथम म्सर्ग श्लोक ३७—३८, ४८ and सर्ग द्वितीय श्लोक ६५

2 जम्बूविभूषणे द्वीपभरते दक्षिणे महान् ।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदन पुर ॥

3x नगर विपुलाऽऽकारपोतन पोतनाभिधम् ।

3 G. O S XX

4 Uttarapurāṇa Parva 57

5 Uttarapurāna (Indore ed) 59 208 ff

6 Ibid 60 50—57

7 Ibid 72 201

8 Ibid 67 223—5

9 Ibid 70 353—361

Tîrthankara graced this country by his noble and pious presence, king Vidyudrāj ruled over Podanapura. His son Vidyutprabha was well-versed in the notorious art of theft and had his headquarters at Rājagraha.[1]

Even the later Jain authors such as Sakalakirti in his "Adipurāna"[2] and Doddhiya in his "Bhujabalicarit" mention Podanapura as the capital of Vāhubali. The latter states that Bhujabali (Vāhubali) the brother of Bharata was the ruler of Podanapura. Owing to some misunderstanding there was a battle between the two brothers, in which Bharata was defeated. Bhujabali however renounced the kingdom and became an ascetic. Bharata had a golden statue of Bhujabali made and set up there, which once became infested with Kukkuta Sarpas. A Jain teacher, named Jinasena, who visited southern Madhura, gave an account of the image at Podanapura to Kālaladevi, mother of Chamundarāya, who vowed that she would not taste milk until she saw Gommata. Being informed of this by his wife Ajitādevi, Chamundarāya set out with his mother on his journey to Podanapura. While staying at Śravanabelgola he came to know about the Kukkuṭa Sarpas. Hence he dropped his journey and set a colossal of Vāhubali there.[3]

The Jaina Kanarese literature also possess many a work such as Aditpurāna, Bharateśa-vaibhava, Bhujabaliśataka, Gommateśvaracharit, Rājāvalikathe and Sthalapurāṇa, which give the story of Vāhubali with its all details and name Podanapura as his capital, where emperor Bharata erected a colossal of his brother when he became a great ascetic.[4] Inscription No 234 of about 1180 at Śravanabelgola which is in the form of a short Kannada poem in praise of Gommata states that Bhujabali was the ruler of Podanapura, who retiring from the world performed penances and became a Kevali. Vāhubali or Bhujabali attained such eminence by his

1 *Ibid*, 76, 51—55

2 प्राहिणोदुत्तमं दूतं नीतिशास्त्रविशारदम्।
स ततो दिवसैः कैश्चिद्गत्वा तत्पोदनं पुरम्॥९६॥

3. Narasimhachara Śravana Belgola pp 10—11

4 *Ibid*, p 10.

victory over Karma that Bharata erected at Podanapura an image in his form 525 bow lengths in height which bacame infested of cockatrices Chāmundaraya tried to visit it [1]

Thus it is clear from the above accounts that —

1 Podanapura styled variously as Potana Podana Paudana and Podanpura was a very ancient city which occupied a prominent place in the traditional history of the Jainas

2 That it was situated in the country named Suramyadeśa in the southern part of Bhāratavarsha

3 That rulers of Podanapura were connected with the house of Sāketa (Ayodhyā) being the descendants of Vāhu bali who was the son of Ṛṣabhadeva of Ayodhyā

4 That these rulers of Podanapura had friendly or adverse relations with the kings of Ayodhyā Sindhu Simhapura Rājagraha Kuru Malaya etc.

5 That in its vicinity were the mountains of Bhutācala Rāmagiri and the country around was very fertile well irrigated by the waters of various rivers which pro duced Śāli rice and sugarcane The forest round Podanapura had the trees of Sandal and camphor peculiar to it which are even to day the special trees of southern India

6 And that at Podanapura there was a colossal of Vāhubali which once became infested with the cockatrices and was mostly visited by the people of the extreme South India up to a very late period so much so that Chāmun drāya with his mother in the 10th century set out for its pilgrimage but could not reach owing to its being inaccessible at the time Thus it is clear that Podana pura was regarded a Tirtha by the Jainas of South India since it became sanctified with the extreme Tapaśyā and attainment of omniscience at the spot by Sri Vāhubali.

1 Ec. II pp 97—99

Turning to the non-Jain literature, we find Podanapura mentioned in the Buddhist Jātakas as the capital of Assakadeśa and the Suttanipāta says that the Assaka country was beside the Godāvāri river and lay between the Sākya mountains, Western Ghauts and the Dandakārnya The great Sanskrit lexicon Vrahdabhidhāna points that Paundya was the capital of King Ashamaka and the Ashamaka country is said to be in the south or south-west of India in Rāmāyana (Kiskandhā-kanda).[1]

But the question here arises that whether Podanapur of the Jains books is identical with the Potana and Paundya of the non-Jain literature? I would give its reply in affermative, since I find mentioned the country of Ashamaka in the Mahāpurana as Ashamaka-Ramyaka[2] It means that either Ashamaka country was also known as Ramyaka or Suramya or it became split into two territories during the later period. The Jain Harivamśapurāna, while giving the names of those countries of southern part of India, which the sons of Rsabhadeva renounced owing to the aggression of their elder brother Bharat, names the country of Ashamaka among them.[3] The Varahamihira has also counted the Ashamaka people with those living in south India and just after the Andhras[4] Rājasekhar in his "Kāvyamimānsā" placed also the Ashamaka country in south in very clear words[5] Śākatayana, who was very well acquainted with south India, hed also named the Ashamakas after the Salvas (i.e, Andhras)[6] Kautilya peculiarised the country of Ashamaka for its diamonds and named it with the Raśtrikas.[7] In the region beyond the Vindhyas, which was in fact the Daksiṇāpatha of the ancient India, we find Golcunda, the famous place for diamonds in the district of Aurangabad Hence Ashamaka country seems to lie somewhere in the modern Berar and Nizam territories

1 Jain Gazette XXII, 211
2 Parva 16 Sb 152
3. Sarga xi sls 70--71
4 Ch xvi sl xi
5 G O S Vol I Ch xvii p 92
6 II, 4, 101
7. अधि २ प्रकरण २९

The Suramya or Ramyaka country of the Jainas also seems in the light of above narrations to come into the same territory of Dakṣiṇāpatha Moreover the Greek Geographer Ptolemy (140 A C) in his map of ancient India locates a country named Ramnai which also falls in the modern Central Provinces and Berar with some division of the Nizam s dominions It is most probable that Ramnai of Ptolemy represents the Suramya or Ramyaka of the Jain books Therefore Podanapura being the capital of Ashamaka or Ramyaka should be find also somewhere in the country named above

To make the point clear still further let us see the whereabouts of the surrounding places of Podonapura as named in above Jaina narrations

Mountains of Bhūtācala and Rāmgiri are mentioned as we have already seen in connection with a prebirth of Lord Pārsva Vādirāja says that Kamatha went to join an asrama on mountain Bhūtācala while Jinasena tells us that Kamatha went to an āsrama of Tāpasas on Ramagiri hill It is possible that either the both mountains were identical or they formed two peaks of the same range Rāmgiri has been identified with the modern Rāmateka in the Nāgpur division [1] As to Bhūtācala it ought to be somewhere in the vicinity of Rāmteka My friend Mr Govind Pai suggests that Bhūtācala should be Betul of the same division though it is a town at present but has many hills round about Moreover it is not of much distance from the Ashamaka country as pointed in the map annexed to Prof R K Mookerji s Fundamental Unity of India The Matsyapurāna locates a country of the name of Tāpasas itself on the northern part of Dakṣiṇāpatha [2] which gets support from the mention of the same country as *Tabassoi* by Ptolemy Therefore it is possible that Kamatha went to Bhutācala or Rāmagiri in the Tāpasa country to observe the penances there Be as it may it is clear from every

1 The Geog Dictionary of ancient & Mod India जैसिमा २—५?
उमास्वाचार्ये mentioned रामगिरि in त्रिरजिग which is modern C. P

2 Panini Office ed SBH. xvii ch cxiv

view points that Podanapura and its surrounding mountains were situated in the northern part of Daksināpatha

The Uttarapurāna has a mention of Malaya mountains, with the Kubjaka Sallaki forest as well, where Marubhuti of Podanapura having died, was born as an elephant.[1] Cunningham locates this mountain in the Drāvid country.[2] Yuang Chwang put it 3000 li south from Kānchi. He " takes us from somewhere near Madura south-west of Tinnevelly district, where he refers to the Sandal producing Malaya mountain, then he speaks of Potalika (Podimalai hill)[3] The Jaina author further connect a river Vegavati with the story of Marubhûti, which too could be find in the Dravid country[4] The Malayadeśa, whose king eloped with the consort of the king of Podanapura as mentioned above, was also in the south India.[5] The princess of Podanapūra was given in marriage to the king of Simhapūra and it may be found just in the neighbourhood of Podanapura being situated in the southern part of Orissa[6] Khāravela's queen was a princess of Simhapur[7] Hence it is obvious from the above facts that the Jaina and other authors locate Podanapura and its environments in the southern part of India and its location on the bank of Godavari, according to Buddhist evidence is justified.

However we cannot take Podanapura to the extreme south of India, since in that case it would not be tenable to find the kings of Podanapura making friendship or waging war with the kings of Kurus, Sindhus and Kośalas, as they did in fact Moreover we find Chāmundarāya hastening to the northern border of south India to have a glimpse of Vāhubali's colossal at Podanapura Had Podanapura been in extreme south Chāmunda Rāya had no need to travel over-to northern border of South India ?

1 मलयकुञ्जकाख्याते विपुले सल्लकीवने । etc.
2. Geog. of ancient India, New ed, p 627
3 *Ibid* Notes p. 741 4 *Ibid* p 739. 5 *Ibid.*
6 Some Contributions of South India to Indian Culture p 33.
7 *Ibid*, & J B O R S iv 378-
My friend Mr Govind Pai identifies Podanapura with Bodhan in the Nizam Territories, to whom I am indebted for many useful suggestions in writing this article

Now since the locality of Podanapura is being held by the Jaina as well as non Jaina evidence to be in the northern border of South India it is apparently useless to talk of it in the extreme North West of India That part of India never abound with Śāli rice Sandal trees and cockatrices On the more it was never heard that there was a Jaina colossal in that part of India South India has a great claim over Vāhubali as he was their first king who was lucky to be first to gain Liberation in this cycle of India therefore they set his more than one colossal and adored him more than the Jainas of northern India But in the introduction of the Bhavisayatta Kana we find the following remarks to the contrary Dr Jacobi on the strength of references in the Paumacariya of Vimalasuri identifies it with Takassaila but becomes doubtful when he finds our author referring to the army of Poyanavai as Sakeyanarindasinnu xiv 139 and Sakkeyajoha xiv 192 This Sakey or Sakkeva he identifies with Saketa or Ayodhya Now it is quite true that Sakeya is the correct Prakrit for Saketa and that Sakkeya is an alternative form for the same But there is another possible phonological equivalent of Sakey Both these can also be Prakrit for Sakeya Historically there is nothing against this identification Saka kings have ruled over Taksasila If this be correct then there is nothing to come in the way of Podanapura being identified with Takṣasila The very close relations that appear to exist between the Sindhus and the Poyanas can be understood on the strength of a close geographical proximity and not if they were apart as Sindh and Ayodhya [1]

With all deffidence to the learned scholar I make bold to say that these remarks are not based on sound evidence The Paumacariya is not before me yet it is clear from the above facts that Podanapura of Padmapurāna with all other Digambara Jaina works was situated in the northern part of South India Kavi Dhanapāla too seems to locate it likewise since he styles the army of Podanapura as Sakeyanarindusinnu which term has puzzled even Dr Jacobi but in fact it can be reconciled easily since we know that the kings of Podanapura were the descendants of Vāhubali who was a scion and hailed from the house of Saketa (Ayodhyā) It

1 G O S xx Intro pp 9—10

Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures

(By Principal Kalipada Mitra, M A B L. Sāhitya-kaustubha)

In the Upanishad it is said

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

The self cannot be gained by scripture knowledge (Vedic knowledge) nor by intellect nor by extensive learning

He who has not cut off his attachment to wicked conduct who is not tranquil nor subdued nor has his mind in peace, can by mere knowledge reach *self*

Here knowledge itself howsoever great availeth not but what is of greater importance is conduct which by causing cessation of wickedness subjugation of passions and creation of peace and tranquillity can help self realisation

In the Jaina scriptures too by far the greatest importance is attached to Saṃyama (संयम) I am quoting a few *sūtras* by way of illustrating the point

सामाइयमाइय सुयनाण जाव बिंदुसाराओ ।
तस्सवि सारो चरण सारो चरणस्स निव्वाण ॥

The knowledge of scriptures (श्रुतज्ञान) begins from *sāmāyikam* and extends to *Bindusāra* But *caraṇaṃ* surpasses *śrutajñānaṃ* in value. Indeed *caraṇam* is action known as *saṃvara* (ननु चरण नाम संवररूप, क्रिया) check or restraint

But it may be said that both *jñāna* and *kriyā* are necessary for the attainment of *mokṣa* for the saying is that without knowledge

action is killed (becomes ineffectual) "हया अनाणतो किया"; therefore both should be treated as equal; why should preference be given to *caraṇam*? The answer is: It is for the following reason. *Jñāna* only reveals or brings-to-light (नाणं पयासयं); *caraṇaṃ*, on the other hand, prevents the acquisition (or the inflow) of new *karman* and brings about the *nirjarā* (or the using up) of the previously collected *karman*. *Jñana* is only limited to the task of lighting up, *caraṇam* on the other hand purifies (the self) of its *karman*-impurities and has therefore the principal qualification, hence it has greater value than *jñāna* It is also said ·

नाणं पयासयं चिय गुत्ति विसुद्धीफलं च जं चरणं ।
मोक्खो य दुगाहणो चरणं नाणस्स तो सारो ॥

The commentary says, both *jñāna* and *kriyā* are the causes of of nirvāna, only that the first place (मुख्य) is to be given to *kriyā*, and the second place (गौण) to *jñāna*, in as much as *mukti* is not attained even while *kevala jñāna* is reached i.e., immediately along with it, but *mukti* is attained after the *caraṇam* of the last moment of the *sailesī*[1] stage, hence *caraṇam* is the primary cause of nirvāna. It is said:

जं सव्वनाणलंभानंतरमहवा न मुच्चए सव्वो ।
मुच्चइ य सव्वसंवरलाभे तो सो पहाणयरो ॥

The niryuktikāra says.

सुयनाणम्मिवि जीवो वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं ।
जो तवसंजममइए जोगे न चएइ वोढुं जे ॥

The *jīva* possessing (lit. existing in) even the *śrutajñāna* cannot reach *mokṣa* if he cannot practise self-control such as *tapas* and *saṃyama*, i.e, if he cannot practise austerities and possess self-restraint Without good *kriyā* mere knowledge cannot reach you the desired object, even as much as a boat which has a steers man

---

1. *Sailesī* is the 72nd stage of Exertion in Righteousness in lect 29 of Ācārānga Sūtra (S B E Vol XXII), the 73rd and the last stage being अकर्मता or freedom from कर्मन्.

knowing the way (cannot reach the desired destination) if there be no wind to lead it in the desired direction It is said

जह छेयलद्धनिज्जामओऽवि वाणिय गइच्छिय भूमिं।
वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णव तरिउं ॥
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ।
निउणोऽवि जीवपोओ तवसंजममारुयविहीणो ॥

As a boat which possesses a clever helmsman cannot reach the land desired by merchants by crossing the great sea without (favourable) wind so (the boat of) the *jīva* who possesses (the clever helmsman of) *śruta jñāna* cannot reach the desired land (सिद्धिवसति) by crossing the ocean (of भव) without the help (wind) of संयमतपोनियम self restraint austerities and observances Therefore one should practise self restraint and austerities without heedless ness (प्रमाद)

संसार सागराओ उब्बुड्डो मा पुण निबुड्डेज्जा।
चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो ॥

Having once emerged out of the ocean of *saṃsāra* do not again merge into it One who is completely devoid of the qualities of *caraṇam* sinks again although he knows much

Here an example is given of a turtle (कूर्म) who with much difficulty emerges out of a great lake rendered dark by the intricate tangle of moss grass and leaves who looks upon the full moon but attracted by the ties of affection for relations plunges back into the lake He is the symbol of ignorance Why should a knower plunge back? Because even vast knowledge is of no avail to the knower who is totally devoid of *caraṇam* for his knowledge empty as it is of fruit is but no-knowledge

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥

What can immense knowledge of the scriptures do to one who is devoid of *caraṇaṃ*? Of what avail are crores of hundreds

of thousands of lighted lamps to the blind ?

अप्पपि सुयमहीयं पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
एक्कोऽवि जह पईवो सचक्खुयस्सा पयासेइ ॥

Even the knowledge of one who has read but a little of the scriptures acts as the revealer if he practises *caraṇam*. Even if there be one lamp, it is the revealer to him who has the eye

जहा खरो चंदणभारवाही भारस्स भागी नहु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी नहुसुग्गतिए ॥

As an ass bearing the burden of sandal wood is the sharer only of the burden and not of the sandal wood, even so, the knower, void of *caraṇam*, bears the burden of knowledge, but is not the sharer of good attainment

The commentary explains The ass only suffers the pain of bearing the heavy load of the sandal wood, and does not enjoy the pleasure of smearing the body with sandal-paste etc. The knower also who is not self-restrained suffers the pain of acquiring knowledge—reading, remembering and thinking—but does not attain the destination of good deva-hood or man-hood

हयंनाणं कियाहीणं हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधयो ॥

Knowledge without action is killed (becomes ineffective), action without knowledge is killed. The lame man, looking on, was burnt, so also, was the blind man, while fleeing. Here a story is told Once there was a conflagration in a great city, in it lived two helpless men - the one was lame, the other blind The people of the city, frightened by the fire, with eyes rolling in distraction, began to flee from it, but the lame man, knowing full well the way of escape, but deprived of the faculty of movement, could not flee but was consumed by the gradually approaching fire The blind man also possessed of the faculty of moving, but deprived of the faculty of seeing, and hence not knowing the way of escape, ran towards

the fire and fell into a ditch brimful of burning coals and was consumed The knower without self restraint is unable to flee from the fire of *karman* similarly the other fails without knowledge It is said (by the Tirthakaras) that only the conjunction of *jñāna* and *kriyā* bears the fruit of *mokṣa* Not by a single wheel does the chariot move. The blind man and the lame man having come together in the wood and thus united entered the city

Here a story is told by way of illustration There was a forest fire The blind man not knowing (seeing) was fleeing towards it but being warned by a lame man Don t flee in that direction for the fire is there asked Where should I go? The lame one said I am lame and cannot move so in front I can t show the way lying at a distance put me on your shoulder so that I may avoid the obstacles of thorns fire etc and with ease lead you to the city The other agreed and both of them reached the city happily

नाणं पयासयं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥

Knowledge is the revealer *tapas* (practice of austerities) is the purifier *saṃyama* (self restraint) is the protector In the scriptures of the Jinas it is said that only in the conjunction of the three lies liberation (*mokṣa*)

Here the following imagery is given There is an empty room with a door slightly ajar and many windows filled with profuse dust and filth driven in by the wind Now some one wants to reside in the room he wants to clean it he shuts the door and all the windows for preventing the entry of dust and filth from outside. He lights a lamp in the middle of the room and employs a man servant in drawing together the filth etc. in this affair the lamp does service in revealing the impurity such as dust etc. the shutting of the door and the window in preventing the entry of outside dust, and the man servant in purifying by drawing together the dust (and ejecting it)

Here *jñāna* is that lamp which by its very nature does service by revealing the impurity which is to be removed *Kriyā*

again in the shape of *tapas* and *samyama* does good ; *karman* of eight kinds collected in many *bhavas* is purified by *tapas*, even as much as filth collected in the house is ejected by the man servant *Samyama* is the closing of the doors of *āsrava* (*karman* inflow), it guards by restraining the coming in of the filth of new *karman*, even as much as the shutting of windows prevents the coming in of filth driven in by the wind

It may be objected, that this militates against the आगम-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

as it leaves out *samyagdarśana* , but there is no fault here since *darśana* is included in *jñāna*.

In the *Pravacanasāra* of Kunda-kunda Acāryya Ed. by B Faddegon (Jain Literature Society Series, Vol I Cambridge, 1935), *Srutaskandha* we read

37. One does not attain by means of scripture-knowledge, if one does not believe in the categories (*arthas*), nor does one believing in the categories, but lacking self-restraint, arrive at nirvāna

Amrtacandra Suri explains it in his *Tattva-dīpikā* thus—" One does not attain perfection through knowledge produced by scripture, but destitute of faith ; or through faith, combined with that knowledge, but devoid of self-restraint "

41. Considering the groups of enemies and friends as the same, pleasure and pain as the same, praise and blame as the same, clay and gold as the same, the sramana[1] is moreover the same in regard to life and death.

Commentary—Self-restraint (*samyama*) is conduct accompained by absolute (*samyag*) faith and knowledge Conduct is duty (dharma) ; duty is equanimity equanimity is a self-evolution devoid of infatuation and perturbation Therefore equanimity is a characteristic of the self-restrainer.

1 The *pākrit* form *samana* presents a favourite similarity in sound to *sama*.

So in regard to the two groups enemies and friends pleasure and pain praise and blame clay and gold life and death he is the same

Whoso being free from the infatuation, 'this one is strange to me this one belongs to me this is joy this is a torment this is an elevation to me this is humiliation has not in regard to any thing the duality of attachment and aversion who continually experiences the self as *having for nature pure faith and knowledge who having appropria* ted enemies and friends pleasure and pain praise and blame clay and gold life and death indistinguishably merely as knowables immovably abides in the self which has knowledge for self truly possesses equanimity in every regard

The Jaina Chronology.

(By Kamta Prasad Jain M R A S)

Continued from Vol III page 41

'THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS"

No	Period & Date	Event
76	Māgha Kraṣna Dvādaśi	After nine caroṛ sāgropamas since Puṣpadanta got liberated Śitalanātha the tenth Tirthankara born at Bhadrapura His father was king Draḍaratha and the name of his mother was Sunandā
77	Do	After enjoying a peaceful worldly life Śitalanātha renounced the world and set himself to observe severe penances and austerities as a naked Śramana As a saint, he took his first meal at the house of king Punarvasu of Aristapura
78	Pausa Kraṣna Caturdaśi	At the end of three years Śitalanātha destroyed the four ghātiya karmas and became an omniscient teacher
79	Aśvina Śukla Aṣṭami	Sitalanātha having preached the Dharma at large came to mount Sammed Sikhara and attained Nirvāna from there
80	Kartika Śukla Purnimā	King Megharatha of Bhaddalpur in the Malayadesa accepted the doctrines of Brāhmana Mauṇḍaśālayana and started to give gifts of gold elephant horse etc. Hence forward the Brāhmanas became hostile to Jainism [Ref Uttarapurāna Parva 56 Slks 30—86]

No.	Period & Date	Event
81	Phālguna Kraṣna Ekādasi.	Śreyāṁsanātha, the eleventh Tirthankara born at Simhapura, when one Sagropama years were elapsed since the Niravāna of Śri Śitalanātha. His father King Visnu ruled over Simhapura and his mother was queen Nandā
	Do.	Having ruled for a long period, Śreyānsanātha installed his son by name Sreyamkara on the throne of Simhapura and adopted the life of a Digambara Muni.
83	Do. Tryodaṣi.	Śramana Śreyānsa took his first meal from the hands of Prince Nanda of Siddhartapura.
84	Māgha Kṛaṣna Amāvasyā.	Śreyānsanātha having become an omniscient Teacher, began to preach Truth. The teachings of Jainism once again prevailed, since they became eclipsed after Śîtalanātha.
85	...	First Nārāyana Traprasta and Baladeva Vijaya flourished at Podanapura, who defeated the greatest monarch of that time named Aśvagrîva Śrivijaya succeeded Traprasta, who rescued his sister Tārā, absconded by a Vidyādhara prince
6	Phālguna Kṛasna Chaturdasi.	After 54 sagropama years since Śreyānsanātha liberated Himself, Tîrthankara Vāsupûjya flourished. Since three *palya* years before the birth of Vāsupujya Jainism became extinguished. Vāsupujya's parents were king Vasupujya and queen Jayāvati

No	Period & Date.	Event
87	Phālguna Kṛṣna Caturdası	Prince Vāsupūjya having lived a celibate s life became disgusted with the world and renounced it
88	Māgha Śukla Dvādası	Vāsupūjya became an omniscient world Teacher and began to preach at large
89	Bhadrapada Śukla Caturdası	Vāsupūjya Tīrathankara reached Mandāragiri (near modern Bhāgalapura in Behar) and attained Niravāna from that place
90		Rājā Brahma ruled at Dvārāvati and from his queen Uṣā the second Nārāyana Dviprașța was born who killed his antagonist and a great oppressor of the time named Taraka His brother was Achala Baladeva
91	Māgha Śukla Caturdaśı	After 30 sagropamas since the liberation of Vāsupūjya Tirthankara Vimala was born His father named Sukratavarma was a Kṣatriya ruler of Kāmpilya and his mother was known as queen Śyāmā Before Vimala s birth Jainism lost its sway for one Palya years (*Ibid* Parva 59 Sl 23)
92	Māgha Śukla Chaturthi	Prince Vimala having enjoyed the worldly life became a naked śramana and observed hard penances
93	Pausa Kṛasnā Daśamī	Vimalanātha became a *Kevalī Jina* and preached Jainism in the Āryakhanda
94	Āṣāda Kṛaṣnā Aṣṭamı	Vimalanātha attained Nirvana from mt. Sammeda Sikhara (*Ibid* 59 23)

No	Period & Date	Event
95	.. .	Meru and Mandara were the renowned apostles of Tirathankara Vimala, who were sons of Rājā Anantavijaya of Mathura. (*Ibid*, 59-108)
96	......	Baladeva Dharma and Nārāyana Svayambhū flourished at Dvārāvati (*Ibid*, 59-63)
97	Jyestha Krasnā Dvādasi	After nine Sāgaropamas and ¾ palya Vimala attained Nirvāna, Anantanātha born at Ajodhyā in the palace of Rājā Siṃhasena and queen Jayaśyāmā
98	Do	Anantanātha renounced the world and observed penances for two months
99	Chaitra Krasnā Amāvasyā	Anantanātha became an omniscient teacher and began to preach the Dharma
100	Do	Anantanātha attained to Nirvāna from Sammeda—Sikhara (*Ibid*, 60-23)
101	......	Baladeva Suprabha and Nārāyana Purusottama flourished (*Ibid*, 60-49).
102	...	After four sāgaropamas since Anantanātha attained Nirvāna, Jainism became obscure for a period of half *palya*
103	Māgha Śukla Tryodaśi	Dharmanātha, tha fifteenth Tîrathankara born at Ratnapura where his father King Bhānu ruled with queen Suvratā.
104	Do	Dharmanātha adopted the vow of a naked śramana and observed penance for a full month.

No	Period & Date	Event
105	Pausa Śukla Pūrnimā	Dharmanātha gained omniscience and preached the Jaina Dharma once again
106	Jyestha Śukla Caturthi	Dharmanātha attained Nirvāna from the mt. Sammeda Sikhara (*Ibid*, 61 21 23)
107		Baladeva Sudarśana and Nārāyana Puruṣa Siṃha flourished (*Ibid* 61 56)
108		Maghawā the third *Cakravarti* monarch appeared at Ayodhyā (*Ibid* 61 68)
109		Sanatakumār the fourth *cakravarti* monarch and a *kāma kumara* flourished at Ayodhyā (*Ibid* 61 104)
110	Jyeṣṭha Kṛaṣnā Caturdasi	After three Sāgaropamas less ¾ palya since Dharmanātha attained liberation Tirthankara Śāntinātha born at Hastināpura His father Viśwasena was a scion of the famous Kuru vamśa and his mother queen Airā was a a Gāndhāra princess He was a *cakravarti* monarch and a Kāmakamāra also
111	Do Trayodasi	Sāntinātha became a naked Śramana and observed penances for sixteen years
112	Pauṣa Suklā Ekadaśi	Śāntinātha gained omniscience and he preached the Dharma as a world Teacher
113	Jyeṣṭha Kṛaṣna Caturdaśi	Śāntinātha attained liberation from Mt. Sammeda Sikhara *To be Continued*

THE JAINA SIDDHANTA BHĀSKARA.

(Gist of Our Hindi Portion · Vol IV, Pt II)

p p 71—83. Kamta Prasad Jain has collected available material from the Jaina and non-Jaina literature referring to Rājagraha, the ancient capital of Magadha and has given an interesting historical sketch of it.

p p. 84—89. Jainācārya Vijaya Indra Sūri has critically reviewed the Gujarāti publication entitled "*Prācina Bhāratavarṣa*" by Dr. T. L. Shah (Baroda) and has pointed out a few of his deliberate misrepresentation of facts. It is wrong to say that the Gommaṭa colossal at Śravanabelagola is the creation of the Mauryan emperors and Mahāvira, the last Tīrthankara attained Nirvāna from Vidiśā (modern Bhilsa).

p.p 90—101. Pt K B Shastri has written on the origin and history of the Jain Prākrata literature: the Apabhraṃśa variety of which is the source from which Hindi originated.

p p 103—109 Why the Bāhubali colossal is called Gommata? by H. Govind Pai

p.p 110—118. B Agarchand Nāhatā has thrown light on the Jain texts dealing with astronomy and medicine. Lists of available mss are given.

p.p 119—122 K P. Jain has pointed out on substantial evidence that the word 'Śri-Samgha' donot mean the Śvetāmbaras only. The Digambaras has also used this word for their own community. Likewise Tapā and Kharatara Gacchhas, originally belonging to the Śvetambara sect, are found also in the Kāṣṭhāsamigha of the

Digambara sect Inscriptions on the Digambara images of the 11th century A D mention Tapāgaccha while a Digambara ms at the Dig Jaina Temple Mainpuri mentions Kharatara Gaccha This ms was written at Dacca in Bengal and bears the date as Śrāvana Krasna 8th 2287 A Vir

pp 125 Mr Ajita Prasada M A L L B describes the main shrine of the famous Jaina Temple at Dharampurā Delhi which was built by Lala Harasukharai of Delhi in 1803 A D

K P J